

व्यवस्था बुद्धि की गारिमा



-श्रीराम शर्मा आचार्य

व्यवस्था बुद्धि की गरिमा



लेखक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य



प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् : २०१०

मूल्य : ९.०० रुपये

मनुष्य को स्वतंत्र चिंतन और स्वतंत्र आचरण की क्षमता प्राप्त है। यह सुविधा किसी अन्य प्राणी को प्राप्त नहीं है। ऐसी दशा में उसका यह निजी दायित्व बनता है कि अपने को स्वयमेव नियति के अनुशासन में बाँधे रहे। संयम इसी का नाम है। धर्मधारणा के आधार पर मनुष्य को अपना चिंतन, चरित्र, व्यवहार, शालीनता के अनुबंधों में बाँधे रहने के लिए कहा गया है।

प्रगति हेतु निर्धारित अनुबंधों के चयन के लिए मनुष्य को विवेक बुद्धि मिली है और उनके अनुरूप चलने-चलाने के लिए व्यवस्था बुद्धि। पशु ढर्रे का जीवन इसीलिए जीते हैं कि उनमें व्यवस्था बुद्धि नहीं है। जो मनुष्य अपनी व्यवस्था बुद्धि का विकास और उपयोग नहीं कर पाते, उन्हें भी पशुवत ढर्रे का जीवन ही जीना पड़ा है।

शरीर के आहार-विहार, श्रम-विश्राम का व्यवस्थित क्रम चला सकने वाला, आरोग्य और शक्ति का लाभ पाता है। मन की शक्ति का व्यवस्थित उपयोग व्यक्ति को महात्मा बना देता है। विचार शक्ति व्यवस्थित होने पर विचारक-मनीषी बनकर वह अनेकों का भाग्यविधाता बनता है। श्रम और पदार्थ की व्यवस्था बना सकने वाले फैक्टरियाँ बनाते-चलाते हैं। हर उत्कर्ष के पीछे व्यवस्था बुद्धि की अनिवार्य भूमिका रहती ही है। मनुष्य मात्र से इसकी गरिमा समझने, इसे विकसित और प्रयुक्त करने की अपेक्षा की जाती है।

क्षमता का अभाव कहीं भी है नहीं



साधनों और परिस्थितियों का अपना मूल्य और महत्त्व तो है ही। उनकी न्यूनाधिकता से होने वाली असुविधाओं को भी नकारा नहीं जा सकता। उतने पर भी यह मानकर चलना होगा कि जो कुछ उपलब्ध है, इसका सदुपयोग कर पाना इतना बड़ा कौशल है कि उतने से भी आवश्यकताओं को पूरा करना और प्रगतिपथ पर आगे बढ़ चलना संभव हो सकता है। स्रष्टा ने किसी में भी इतनी कम क्षमता नहीं रहने दी है कि उसे निर्वाह साधनों एवं प्रगतिपथ पर बढ़ चलने में प्रतिरोध जैसा दृष्टिगोचर हो। अभावग्रस्त और कठिन परिस्थितियों में भी लोगों को जीवन के साधन ढूँढ़ निकालने में समर्थ पाया गया है। उत्तरी ध्रुव की परिस्थितियाँ अत्यंत विकट हैं। शून्य तापमान से कम वाली कड़ाके की सरदी, वनस्पतियों का अभाव, किन्हीं उपयोगी साधनों का दृष्टिगोचर न होना, चुंबकीय तूफान जैसी विकट परिस्थितियों में भी वहाँ के निवासी 'एक्समो' कहलाने वाले मनुष्यों ने आवास, निर्वाह, आहार, जल, प्रकाश, आवागमन एवं पारस्परिक सहयोग से मिलने वाली सुविधाओं का तारतम्य बिठा लिया है।

सधन वनों में वनमानुषों की तरह रहने वाले विभिन्न क्षेत्रों के आदिवासी, सभ्यताजन्य सुविधाओं से अपरिचित होते हुए भी, कहीं आस-पास उपलब्ध हो सकने वाले साधनों के आधार पर सहस्रों वर्षों से काम चलाते आ रहे हैं और अस्तित्व बनाए हुए हैं।

समुद्रों के बीच पाए जाने वाले छोटे-छोटे टापुओं पर भी, मनुष्य रहते और फलते-फूलते देखे गए हैं, जबकि उन्हें उस क्षेत्र में आदिमकालीन न्यूनतम सुविधाएँ ही उपलब्ध हैं। कहीं-कहीं ऋतु-विपर्यय भी कम हैरान करने वाला नहीं होता। फिर भी उन क्षेत्रों के मनुष्य एवं प्राणि अपनी सुरक्षा और वंश वृद्धि करते रहने में समर्थ पाए गए हैं। स्पष्ट है कि प्राणी समुदाय सहित मनुष्यों में वह जन्मजात क्षमता विद्यमान है, जिसके सहारे उन्हें प्रतिकूलताओं पर विजय प्राप्त करते रहने का श्रेय मिलता रहा है।

मिट्टी और पानी में घुले रहने वाले सूक्ष्मजीवी, अपने निर्वाह और सुख साधनों की व्यवस्था उन्हीं अति कठिन दीखने वाली परिस्थितियों में जुटा लेते हैं। परिस्थितियों को अनुकूल बनाने हेतु स्रष्टा ने हर किसी को क्षमता प्रदान की है। मनुष्य अपने दृष्टिकोण से उन सामान्य प्राणियों की क्षमताओं को सामान्य समझकर हेय मान सकता है, पर और किसी को उन्हीं परिस्थितियों में रहने का अवसर मिले, तो वह अनुभव करेगा कि मनुष्य को अपनी परिस्थितियों से निपटने के लिए जो विशेषताएँ मिली हुई हैं, उनकी तुलना में उन प्राणियों को मिला अनुदान किसी भी प्रकार कम नहीं है। हवा में तैरते दिखने वाले बैक्टीरिया एवं वायरस स्तर के जीवों का भी अपना संसार है, वे प्राणियों के शरीरों और वृक्षों के कलेवरों में चाहे जहाँ पहुँच जाते हैं। अपने लिए अनुकूल परिस्थितियाँ हर जगह पर प्राप्त कर लेते हैं। परिवर्तन की नियति स्वरूप तो उनकी स्थिति बदलती रहती है, पर अस्तित्व को चुनौती देने वाला कभी कोई संबंध उनके आड़े नहीं आता। अनादि काल से उनकी प्रजातियाँ विद्यमान हैं।

शरीर से छोटे घटकों, जीव कणों की भी अपनी सत्ता है। वे जल्दी-जल्दी जन्मते-मरते तो रहते हैं, पर उनका व्यवस्था क्रम ऐसा सुनयोजित है, जिसकी तुलना में चलते-फिरते दृश्यमान प्राणियों में से किसी के भी क्रिया-कलाप को उतना सुव्यवस्थित एवं

अनुशासित होने का श्रेय नहीं मिल सकता। यह धरती के प्राणियों में से कुछ की बात हुई। अंतरिक्ष में विद्यमान ग्रह-उपग्रहों और नीहारिकाओं का अपना एक अनोखा संसार है, जिसमें महाछिद्रों, महासागरों, महामेघों और महान ऊर्जा-स्रोतों का अपना संसार विद्यमान है। मनुष्यों की तरह वे वार्तालाप आदि में समर्थ नहीं, पर उनके बीच विद्यमान अनुशासन और तारतम्य ऐसा है कि वे एक विराट वृक्ष के अविच्छिन्न घटकों की तरह आदान-प्रदान का सुनियोजित क्रम चला रहे हैं। इसी अनुबंध के परिपालन पर उनकी सत्ता और गतिविधियों की सुनियोजित शृंखला अनादि काल से चलती आ रही है और अनंत काल तक चलती रहेगी। पदार्थजगत के प्रत्येक अणु परमाणु में वह व्यवस्थाचक्र अपने-अपने ढंग से काम करता पाया जा सकता है। आणविक संरचना, उनकी मध्यवर्ती नाभिकीय ऊर्जा तथा परिभ्रमण की गति कक्षा का निर्धारण भी ऐसा है, जिसे देखते हुए सौर मंडल से लेकर विश्व ब्रह्मांड की संरचना तक में काम करने वाले व्यवस्थाक्रम को सर्वत्र एक जैसा विद्यमान समझा जा सकता है। यहाँ सब सुव्यवस्थित और सुनियोजित है। 'अणोरणीयान महतो पर महीयान' वाली समस्वरता प्रकृति-विस्तार के प्रत्येक घटक में, इसी आधार पर विद्यमान हैं।

सृष्टि क्रम के पीछे विद्यमान इस सुनियोजन को यदि समझा जा सके तो सहज ही जाना जा सकेगा कि मनुष्य की मौलिक सत्ता कितनी प्रबल और प्रखर होना चाहिए? कारण कि उसे दुहरा अतिरिक्त अनुदान उपलब्ध है। उसकी शरीर संरचना अन्य प्राणियों की तुलना में अनेक गुनी विशेष है। इतने सुनियोजित हाथ किसी भी प्राणी को मिले हुए नहीं हैं। यदि इस संरचना में कमी रही होती, तो कला-कौशल, संगीत-वादन, मूर्तिकला, चित्रकला, वैज्ञानिक विशेषज्ञता में से एक को भी प्रदर्शित कर सकना उसके लिए संभव न रहा होता। उसके हाथों ने अनेकों यंत्र-उपकरणों का आविष्कार

किया और उनके कुशल संचालन में प्रवीणता प्राप्त की। खड़े होकर चलने वाली रीढ़ और लंबी, ऊँची-नीची यात्राएँ कर सकने में समर्थ पैर भी किसे मिले हैं? अन्य ज्ञानेंद्रियों के संबंध में भी यही बात है, उनकी अपनी विलक्षणता और आंतरिक क्षमता है। मानवी उपलब्धियों में से प्रायः सभी उसी कारण बन पड़ी कि उसे अनुपम स्तर का शरीर-संसाधन मिला हुआ है।

मन मस्तिष्क की क्षमता तो और भी अधिक विलक्षण है। उसमें सोचने की, अनुकरण करने की, स्मृतियाँ धारण करने की, अनुभवों की, सुसंस्कारों की एक से बढ़कर एक विशेषताएँ उपलब्ध हैं। कल्पना शक्ति, बौद्धिक प्रखरता एवं निष्कर्ष निर्धारण इस स्तर का पाया जाता है जिसकी उपमा अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलती। यदि मानसिक विलक्षणताओं से वह संपन्न न रहा होता तो एक से एक विशेषताओं से भरे-पूरे प्राणिजगत में उसकी गणना मुकुटमणि स्तर पर न हुई होती? गज, ग्राह, सिंह, व्याघ्र जैसे जीव ही उसे पछाड़ देने के लिए पर्याप्त थे। वह पक्षियों की तरह उड़ने—जलचरों की तरह तैरने में भी कहाँ समर्थ है? घोड़े और चीते जैसी दौड़ने की क्षमता उसमें कहाँ है? पौधों के भीतर घुसकर अपनी दुनियाँ बसाने और चलाते रहने वाले कृमि-कीटकों जितनी क्षमता भी उसमें कहाँ है? यहाँ तक कि मक्खी-मच्छरों जैसे अल्पजीवियों की वंशवृद्धि की क्षमता को देखते हुए भी उसे अपने को बहुत पिछड़ा हुआ अनुभव करना होगा। इतना सब होने पर वह जिस कारण सृष्टि का मुकुटमणि कहला सका, वह उसकी मानसिक विलक्षणता का ही फल है। उसी ने इस अनगढ़ धरातल को कला-कौशल और शोभा-सज्जा से सज्जित बनाकर रख दिया है।

स्रष्टा ने यों किसी को भी असमर्थ नहीं छोड़ा है। क्या जड़ पदार्थ और क्या वनस्पतियाँ-प्राणिजगत, सभी को अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुरूप प्रचुर मात्रा में क्षमता एवं दक्षता प्रदान की है। फिर स्रष्टा का युवराज ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते उसके कंधों पर

तो यह दायित्व और लदा है कि संबद्ध पदार्थों को सुनियोजित और प्राणियों को समुन्नत बनाए रखे। स्रष्टा ने अपना कार्यभार हलका करने के लिए मनुष्य को सहयोगी के रूप में रचकर योजनाबद्ध रूप से निरूपित किया है। इन परिस्थितियों में उसे अधिक भारी दायित्वों का निर्वाह कर सकने वाला सिद्ध होकर, अपनी वरीयता की सार्थकता सिद्ध करनी चाहिए। उसका चिंतन, कौशल एवं क्रिया-कलाप ऐसे होने चाहिए, जो सुव्यवस्था को अधिक सक्षम रख सकें।

मनुष्य साधारण प्राणियों के बीच रहते हुए उन्हीं के जैसा व्यवहार न अपना ले, इसलिए तत्त्वदर्शियों ने उसके लिए अतिरिक्त प्रकाश-प्रेरणा का निर्धारण किया है। इसी को आत्मबोध, दिशा निर्धारण एवं कर्तव्यपालन की दिशा धारा अपनाने वाला, उत्कृष्टता बनाए रखने वाला, तत्त्वज्ञान कहा गया है। उसी को अध्यात्म कहते हैं। धर्मधारणा भी यही है।

छोटे बच्चे अकसर गड़बड़ाते और लड़खड़ाते रहते हैं। उनकी चेष्टाएँ अटपटी होती हैं। जो बोलते हैं, वह भी असंबद्ध होता है। फिर व्यवस्था की दृष्टि से और भी अधिक पिछड़े हुए हैं। आवश्यकताओं की पूर्ति प्रकट कर सकने में समर्थ नहीं होते। सरदी-गरमी से बच सकने की विद्या तक उन्हें नहीं आती। मल-मूत्र तक को यथा स्थान त्यागने और उस गंदगी को दूर हटाने की युक्तियाँ तक उनसे नहीं बन पड़ती। ऐसी दशा में मनुष्य जन्म प्राप्त कर लेने पर भी बचपन में स्थिति ऐसी ही बनी रहती है, जिसे अपंगों और अनगढ़ों के स्तर की कहा जा सके। यह स्थिति कई वर्ष तक बनी रहती है और अभिभावकों के निरंतर सहयोग से धीरे-धीरे सुधार-परिष्कार की दिशा में चल पड़ती है। प्रौढ़ता तो किशोरावस्था तक को पार कर लेने के उपरान्त ही दृष्टिगोचर होती है।

यह प्रत्यक्ष कलेवर का प्रगति क्रम हुआ। अब चेतन क्षेत्र के अनगढ़पन को सुसंस्कृत बनाने का प्रश्न सामने आता है। उसे

व्यवस्था बुद्धि की गरिमा / ७

संपन्न कर सकने में यह तत्त्वदर्शन ही समर्थ है, जिसे शालीनता का पक्षधर अनुशासन कहा जाता है। नागरिकशास्त्र, नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान शास्त्र मिलकर इसी की पूर्ति करते हैं। अध्यात्म और धर्म के विशालकाय ढाँचे को खड़ा करने वाले भी इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए आवश्यक ताना-बाना बुनते रहे हैं। आस्तिकता, धार्मिकता के नाम पर चेतना को इसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए प्रशिक्षित किया जाता है कि वह अनुशासन में तत्परतापूर्वक उसी तरह बँधा रहे, जैसे कि पदार्थजगत और प्राणि जगत प्रकृति प्रेरणा के अनुबंधों में विवश होकर जकड़ा हुआ है।

मनुष्य को स्वतंत्र चिंतन और स्वतंत्र रूप से क्रिया निर्धारणों की छूट है। यह सुविधा किसी और घटक को नहीं मिली। ऐसी दशा में उसका यह निजी उत्तरदायित्व बनता है कि अपने को स्वयमेव नियति की अनुशासन व्यवस्था में बाँधे रहे। संयम इसी का नाम है। मानवी मर्यादाओं और वर्जनाओं के विधि निषेध के अंतर्गत उसे यह प्रशिक्षण दिया गया है कि अंतः प्रकाश के आधार पर राजमार्ग को अपनाए रहे, भटकावों में न भटक पाए। धर्म-धारणा के आधार पर मनुष्य को अपने चिंतन-चरित्र व्यवहार को शालीनता के अनुबंधों में बाँधे रहने के लिए कहा गया है।

इसके बाद उस तत्त्वज्ञान का आरंभ होता है, जिसे सेवासाधना के नाम से जाना जाता है। इसका विस्तार तो बहुत लंबा है, पर संक्षेप में इसे चिंतन, उपक्रम एवं साधना का सुनियोजन कहा जा सकता है। यदि इस दिशा में सही निर्धारण के साथ चल सकना संभव हो तो मानना चाहिए कि पुण्य-परमार्थ का, सेवासाधना का वह प्रकाश अपनाया गया जो जीवन लक्ष्य की पूर्ति में पूर्णतया समर्थ है।



व्यवस्था बुद्धि की गरिमा / ८

शारीरिक और मानसिक कायाकल्प कैसे संभव हो



सामर्थ्य का होना एक बात है और उसका सुनियोजन कर सकना सर्वथा दूसरी। माचिस की तीलियों में अग्नि प्रज्ज्वलन की प्रचंड क्षमता विद्यमान रहती है, फिर भी उसे जला सकना किसी बुद्धिमान प्राणी के लिए ही संभव है। कृषि कार्य और पशुपालन ऐसे काम हैं जिन्हें मामूली मजदूर और ग्वाले भी करते रहते हैं, पर उससे अतिरिक्त लाभ उठाना उन्हीं से बन पड़ता है, जो अपने विशेष ज्ञान, अतिरिक्त तत्परता एवं मनोयोग और तन्मयता का परिचय दे पाते हैं। इस विशेष विनियोग के बिना खेत मुश्किल से अपनी लागत की भरपाई कर पाते हैं। पशुओं के झुंड भी अनाड़ी ग्वालों के हाथ किसी प्रकार दिन गुजारते हैं। वे न समर्थ बन पाते हैं और न पालने वाले को ही कुछ यश या श्रेय दे पाते हैं। व्यवस्था के अभाव में समस्त साधनों के रहते हुए भी प्रगति कर सकना तो दूर, यथास्थान बने रहना भी कठिन पड़ता है। प्रगति की तरह अवनति भी पग-पग विद्यमान रहती है। जो प्रगति कर सकने में समर्थ नहीं, अवनति उनके पल्ले बँधे बिना रहेगी नहीं। यथास्थिति बनी रहने का इस संसार में कोई विधान है नहीं। सूरज या तो ऊपर चढ़ता जाता है अथवा उसका गिरना आरंभ हो जाता है और उस क्रम के चलते रहने से उसे अस्ताचल में डूब मरना पड़ता है। इसी चढ़ाव-उतार के क्रम को दूसरे शब्दों में प्रगति और अवनति कहते हैं।

कौशल अनेकानेक हैं। कला की दिशा धाराएँ अगणित हैं। सुयोग और कुयोग का सिलसिला भी चलता है। अंधकार और

व्यवस्था बुद्धि की गरिमा / ९

प्रकाश की तरह संपन्नता-विपन्नता का क्रम भी परिस्थितियों पर निर्भर रहता है। पर जिस सद्गुण में अधिक उत्पादन क्षमता है, उसका नाम है—सुव्यवस्था—उपलब्धियों का सुनियोजित प्रबंध कर सकने की क्षमता। भौतिक प्रगति के क्षेत्र में यदि इसे सर्वोत्तम स्तर की प्राथमिकता दी जाए तो कुछ भी अनुचित न होगा। सुनियोजन ही है जिसके कारण कम योग्यता और अभावग्रस्तता के बीच रहते हुए भी व्यक्ति न केवल प्रसन्न रह सकता है, वरन समुन्नत भी बन सकता है।

सुदृढ़ स्वास्थ्य और दीर्घयुष्य का भंडार हर कायकलेवर में विद्यमान है। विषाणुओं को परास्त करने की क्षमता रक्त के श्वेत कणों में इतनी भरी पड़ी है, जिसे अजेय कहा जा सके। पेट के अपने रासायनिक घटक इतने उच्चकोटि के हैं कि वे भुने सत्तू जैसे शक्तिहीन कहे जाने वाले पदार्थ खाकर भी अपने बलबूते पूर्ण भोजन की आवश्यकता पूरी कराते रह सकते हैं। फिर भी अस्वस्थता क्यों आ घेरती है? अकाल मृत्यु से क्यों मरना पड़ता है? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि आरोग्य के नियमों की अवहेलना ही कुछ अपवादों को छोड़कर प्रधान कारण है। यदि आरोग्य के अनुबंधों में बँधकर आहार-विहार को सुव्यवस्थित रखा जा सके तो अन्य प्राणियों की तरह मनुष्य भी नीरोग रह सकता है और दुर्घटनाओं के व्यवधानों को छोड़कर परिपूर्ण आयु तक जीवित रह सकता है। हमीं हैं जो शरीरचर्या के साथ अस्त-व्यस्तता अपनाकर खिलवाड़ करते हैं और दुर्बलता को आग्रह-पूर्वक आमंत्रित करके उसके मुँह में हठपूर्वक जा घुसते हैं।

देव उद्यान की तरह हरा-भरा, फूला-फूला, शोभा-सुषमा से भरापूरा सुगंधित एवं समृद्ध है यह अपना संसार-अपना भूलोक। इसे रंगमंच की तरह किसी ने चित्र-विचित्र और मणि-मुक्तकों से सुसज्जित इस स्तर का बनाया है कि इसके कण-कण को निहारते हुए हर घड़ी आनंद-विभोर रहा जा सके। प्रकृति की अपनी शोभा

व्यवस्था बुद्धि की गरिमा / १०

है। उमड़ते बादल, झिलमिलाते सितारे, चहकते पक्षी, हारयाला बिछे मखमली फर्श, सरिता-सरोवरों की हिलोरें, किसका मन पुलकन से नहीं भर सकती? जहाँ सूर्य रोशनी-गरमी और चंद्रमा शांति-शीतलता बरसाने के लिए अपनी-अपनी ड्यूटी देते हों, जहाँ पवन पंखा चलाता है, जहाँ निद्रा की परी अपनी गोदी में सुलाने के लिए रात्रि होते-होते दौड़ आती हो, जहाँ की वनस्पतियाँ नन्हें-मुन्ने शिशुओं की तरह खिलती-खिलाती हैं, प्राणिगण सहकार के लिए बढ़कर खड़े रहते हैं, वहाँ किसी को असुविधा, हैरानी और विपन्नता से खिन्न रहने की क्या और क्यों आवश्यकता पड़ेगी? इतने पर भी किसी का मन खिन्न-विपन्न रहता है तो समझना चाहिए कि खोट परिस्थितियों का नहीं, मनःस्थिति में ही कहीं से आँख में आ पड़ने वाली धूल-किरकिरी की भाँति घुस पड़ी है। दृष्टिकोण के गड़बड़ाने से ही झाड़ी का भूत, रस्सी का साँप दिख पड़ता है। अस्त-व्यस्त मन ही इस सुरम्य उद्यान को जलते-जलाते मरघट जैसा बना लेते हैं और कुकल्पनाओं के भूत-पलीत यहाँ नंगे होकर नाचने, डरने-डराने का खेल खेलते हैं। यह संसार दर्पण भर है, जिसमें अपने प्रतिबिंब के अतिरिक्त और कुछ मिलता नहीं। इसे विशाल आकार वाला गुंबद भी कह सकते हैं, जिसमें भय की प्रतिध्वनि गूँजती और मीठे कड़वे शब्द कह-कहकर हँसाती रुलाती रहती है।

मन को यदि दिशा-विहीन घोड़े की तरह किधर भी बेहिसाब दौड़ पड़ने से रोका जा सके तो वह शत्रु न रहकर मित्र भी बन सकता है। आरोपित विषमताओं के स्थान पर संभावनाओं का अंबार लगा सकता है। छिद्रान्वेषण यदि हट सके तो गुण ग्राहकता के उदय होते ही यह सब कुछ शुभ, सुंदर और सहयोग में निरत ही होते देखा जा सकेगा। यह अपना मन ही है जो रंगीन चश्मा पहन-पहनकर अपनी दृष्टि में स्वयं इच्छित रंग का आरोपण कर लेता है। चश्मा उतरे तो यथार्थता दीखे। नरक जैसे डरावने भ्रम-जंजाल अनगढ़ मन ही बुनता है और उनमें अपने आप को फँसाकर रोता-कलपता रहता है।

यहाँ यह नहीं कहा जा रहा है कि विपन्नताओं के पीछे सारा खोट कसूर अपना ही होता है, दूसरे कोई उसमें दोषी नहीं होते, विपरीत परिस्थितियों की उनमें कोई साझेदारी नहीं होती। स्पष्ट है कि यह संसार गुण-दोषों का बना हुआ है। यहाँ प्रकाश भी है और अंधकार भी। सरदी और गरमी की तरह अनुकूलताएँ भी आती-जाती रहती हैं। उन सबको सुधार या बदल सकना, अपने वश की बात नहीं। सब कुछ अपनी इच्छा के अनुरूप ही बनकर रहे, यह संभव नहीं। दूसरों को अपने से सहमत करने के लिए एक सीमा तक ही समझाया या दबाया जा सकता है। ऐसी सर्वशक्तिमान सत्ता किसी के पास नहीं है कि जो कहना न माने, उसे तोप के गोले से उड़ा दिया जाए। यहाँ तालमेल बिठाकर चलना ही एक सरल और संभव तरीका है। अनौचित्य के प्रति असहयोग या अधिक से अधिक विरोध प्रदर्शन कर सकते हैं। पुलिस, जेल तक की नौवत दैनिक व्यवहार में नहीं आती। हर काम में लड़ाई भी नहीं ठानी जा सकती है। संघर्ष सिद्धांततः तो अच्छा है, पर उसके आक्रमण-प्रत्याक्रमण का सिलसिला चल पड़ता है, जो कई समस्याएँ उत्पन्न करने के अतिरिक्त भारी भी पड़ता, उससे भी यह निश्चित नहीं होता कि जैसा चाहा गया, वैसा ही प्रतिफल निकलेगा। वस्तुस्थिति को समझते हुए बुद्धिमानों इसी में रहती है कि तालमेल बिठाए रखा जाए और विचार-विनिमय द्वारा पूरे या आंशिक समाधान का कोई स्वरूप बनाया जाए, इसी में व्यावहारिकता भी है और बुद्धिमत्ता भी।

विग्रहों के पीछे दूसरों की खोट भी हो सकती है, पर अपने पक्ष की कमी इतनी तो रह ही जाती है कि तालमेल बिठाने की सोचना छोड़कर, मात्र अड़ या डट जाने को ही प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाया गया। दुनिया का काम ऐसे नहीं चलता। परिवार के सदस्यों के बीच उसी प्रकार की तनातनी रहे तो विघटन निश्चित है। मित्रों की बीच साधारण से मतभेदों को लेकर शत्रुता चल पड़ती है और

एकदूसरे के लिए सहयोग का मार्ग छोड़कर संकट खड़ा करने पर उतर आते हैं। सभी प्रयास निष्फल हो जाने पर ही ऐसी स्थिति आने देनी चाहिए। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि उसमें लाभ कम और घाटा अधिक है।

गड़्ढों वाली उबड़-खाबड़ सड़क पर मोटर जैसे वाहन तभी चल पाते हैं, जब उनके स्प्रिंग लचकदार हों। ताली दोनों हाथ से बजती है। एक हाथ तैयार न हो तो दूसरा चाहते हुए भी टकरा नहीं सकता। अनिवार्य संकट आ खड़ा होने पर तो दो देशों की सेना भी एकदूसरे के सामने डट जाती है, पर यह नीति बड़े क्षेत्रों में ही अपनाई जाती है। सामान्य जीवन में तो आएदिन सुलह-सफाई की नीति अपनाकर ही चलना पड़ता है। अन्यथा उलझते-उलझाते रहने पर कोई सृजनात्मक प्रयास बन पड़ना और प्रगति की दिशा में आगे बढ़ सकना संभव नहीं हो सकेगा। विग्रहों को इसी नीति के अनुसार टाला जाए। सुधार दूसरों में बन ही पड़ेगा, यह अनिश्चित मानकर अपनी भूलों को सुधारते रहने का एकपक्षीय फैसला करना चाहिए।

मन को खिन्न करने वाले प्रसंगों को यथासंभव उपेक्षित करना चाहिए और वह सोचना चाहिए जिसके आधार पर मनोबल बनाए रहने वाली स्थिति बनी रहे। भूतकाल की अनुपयुक्तताओं को भूलकर, हमें उज्ज्वल भविष्य की संरचना पर ही ध्यान केंद्रित करना चाहिए। जो उपलब्ध है उस पर संतोष किया जाए और आगे अधिक प्राप्त करने के लिए आतुर-व्याकुल होने की अपेक्षा उस दिशा में योजनाबद्ध रीति से, क्रमिक गति से आगे बढ़ा जाए।

अमीरों के साथ तुलना करने पर अपनी स्थिति गरीब जैसी प्रतीत होती है और गरीबों के साथ माप करने पर आज की स्थिति कहीं अच्छी प्रतीत होती है। संतोष का सुख पाने के लिए यही नीति अपनानी चाहिए। प्रयत्न अच्छे से अच्छे तो किए जाएँ पर बुरे से बुरा फल पाने के लिए भी तैयार रहा जाए। असफलता का प्रभाव

इतना न पड़ने दिया जाए कि वह निराशा बनकर उभर आए और भविष्य की आशा को ही धूमिल कर दे। हमें खिलाड़ियों की तरह जीवन का खेल खेलना चाहिए। जिसमें हार और जीत को हलके मन से लिया जाता है और हर स्थिति में उत्साह बनाए रखा जाता है। हँसती-हँसाती फूल की जिंदगी ही सफल और सुखद मानी जाती है। क्षति और पराजय को भूलकर भावी उपक्रम बनाने और जिस स्थिति में है उससे अधिक प्राप्त करने के लिए प्रयत्नरत होना चाहिए।

गड़बड़ाती हुई मशीन को ठीक करने से पहले मिस्त्री वह जाँच-पड़ताल करता है कि कहाँ क्या नुक्स आ जाने से मशीन बंद हुई है? ठीक करने का क्रिया-कलाप इसके बाद ही चलता है। चिकित्सक रोग का कारण जाँचता और इसके बाद इलाज आरंभ करता है। सब कुछ ठीक-ठाक रहने पर भी यह देखभाल होती रहती है कि अगले दिनों किसी अड़चन की आशंकाएँ तो नहीं? कारण भूतकाल में छिपे मिलते हैं, गड़बड़ी वर्तमान में दीख पड़ती है, आशंका का अनुमान भविष्य के संदर्भ में लगाया जाता है। सड़क पार करते समय सामने ही नहीं, दोनों ओर देखकर चला जाता है। ठीक इसी प्रकार शरीर और मन की वर्तमान स्थिति के संबंध में पिछली गलतियाँ, अब की आदतों और अगले दिनों घटित हो सकने वाली आशंकाओं को ध्यान में रखते हुए यह निर्णय करना पड़ता है कि किस सुधार-परिवर्तन की आवश्यकता है? उसे किस प्रकार कार्य रूप में परिणत किया जाना चाहिए?

व्यवस्था बुद्धि उसी को कहते हैं, जिसमें मात्र तात्कालिक स्थिति को ही नहीं उससे जुड़े हुए भूतकालीन तथ्यों पर भी ध्यान दिया जाता है और उनमें जो हेर-फेर करना हो, उसे करने के लिए बिना समय गँवाए कदम उठाया जाता है। भविष्य को और भी अधिक अच्छा बनाने के लिए यह निर्धारण भी किया जाता है कि अधिक महत्वपूर्ण को पाने के लिए क्या मूल्य चुकाना पड़ेगा और

उसे जुटाने के लिए क्या तारतम्य बिठाना पड़ेगा? इस प्रकार के समग्र चिंतन को ही व्यवस्था कहते हैं, भले ही वह किसी भी प्रयोजन के लिए अपनाई गई है। शारीरिक और मानसिक स्वस्थता, समर्थता का महत्वपूर्ण आधार है। इसलिए उसकी रखवाली और प्रगति के लिए उसी प्रकार सतर्क रहना चाहिए, जैसा कि कोई अनेक दिशा धाराओं वाले उद्योग-व्यवसाय को चलाने, समस्याओं का हल निकालने के लिए तत्पर रहता है।

घर में रोज बुहारी लगाई जाती है। उपयोग में आने वाली वस्तुओं को सही स्थिति में रखने के लिए उन्हें प्रतिदिन झाड़ा-पोंछा जाता है। शरीर और मन चूँकि जीवन का समूचा भार वहन करते हैं, उसके लिए उनमें उत्पन्न होते रहने वाली गड़बड़ियों को बिना आलस्य किए सुधारते रहना आवश्यक है। घोड़े से लंबी अवधि तक काम लेना हो तो उसके चारे दाने का प्रबंध तो करना ही पड़ता है, साथ ही उसे सरदी-गरमी, गंदगी से बचाने की भी सतर्कता रखनी होती है। शरीर और मन की दोनों साधना दो हाथों या दो पैरों की तरह है। इनके गड़बड़ा जाने पर अपनी समूची क्षमताएँ अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। प्रगति करना तो दूर यथास्थिति बनाए रहना और अवगति से बचना तक कठिन हो जाता है। अन्यान्य जिम्मेदारियों का वहन करते हुए जिस प्रकार जीवनचर्या चलाई जाती है, उसी में एक महत्वपूर्ण पक्ष यह भी जुड़ा रहना चाहिए कि आरोग्य की स्थिति ठीक है या नहीं? भूख, नींद और मल-विसर्जन के तीन कार्य यथावत हो रहे हैं या नहीं? मन-उत्साह, साहस और उल्लास की तीनों विशेषताओं को अपने स्थान पर ठीक से रखे हुए है या नहीं? यदि नहीं तो उपेक्षा में समय गँवाने की अपेक्षा तुरंत उसके उपचार में लगना चाहिए।

यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि चिकित्सकों की सहायता से किसी भी रोग में नगण्य जितना ही सुधार होता है। सुधार तो अपने निज का आहार-विहार व्यवस्थित करने के रूप में करना

पड़ता है। नियमितता अपनाना, संयम बरतना और स्वच्छता के लिए स्फूर्ति बनाए रहना ऐसा प्रयास है कि जिसके आधार पर खोए स्वास्थ्य को फिर से पाया जा सकता है। अच्छा हो तो उसे और भी अधिक अच्छा बनाया जा सकता है।

मन के संबंध में भी यही बात है। दूसरों की ओर से जो अवांछनीयता बरती गई है, उसका प्रतिशोध लेने की अपेक्षा यह सोचना चाहिए कि अपनी ढाल कैसे मजबूत की जाए जिस पर किसी आक्रमणकारी का प्रहार कारगर न हो सके। इसी प्रकार अपने संतुलन को बनाए रहकर यह सोचना चाहिए कि अगणित असुविधाओं से निपटने का क्या उपाय हो सकता है और उसे वर्तमान परिस्थितियों में किस आधार पर, किस सीमा तक निरस्त किया जा सकता है? इतने पर भी यदि कुछ संकट आ ही खड़ा हो तो इतना धैर्य और साहस सँजोए रहना चाहिए कि आगत आपदा से हंसते-हँसते किसी प्रकार निपट लेने का उपक्रम बन सके। अपनी स्थिति सुधार लेना बाहर की अनेकों प्रतिकूलताओं को अनुकूलता में बदल लेने का गुरुमंत्र है।



बुद्धि की तीक्ष्णता और सक्रियता को पैनी रखें



अगणित विशेषताओं से युक्त मानवी कायकलेवर की उपलब्धि ईश्वर की देन है। इसे सँजोना, सँभालना उपलब्धिकर्ता का अपना काम है। कोई चाहे तो निर्वस्त्र रहकर पागलों की तरह उपहासास्पद स्थिति में भी बना रह सकता है। किसी में शऊर हो तो उसी काया को परिधान आच्छादनों से शृंगारित, सुसज्जित करके मन मोहक बनाया जा सकता है। यह अपनी मर्जी और सम्मान का विषय है। भगवान ने मानव की बुद्धिमत्ता और पात्रता को इसी कसौटी पर परखा है कि वह दिए गए अनुदान का उपयोग करने में अपनी कुशलता और प्रगतिशीलता का परिचय दे सकता है या नहीं? प्रभावी प्रगति या अवगति की संभावना इसी कसौटी पर कसे जाने के उपरांत बन पड़ती है।

आलस्य मनुष्य का प्रथम शत्रु है। शरीर को वह सजीव होते हुए भी निर्जीव स्तर का बनाकर रख देता है। जब स्फूर्ति, उत्साह और परिश्रम को अपनाया ही न जाएगा, तो काया स्वयं ही दौड़ती और कुछ उपयोगी करती रह सके, ऐसा कहाँ बन पड़ेगा? सभी व्यक्ति न अपनी कमी खोज पाते हैं और न उसमें सुधार करने का कुछ प्रयास करते हैं। फलतः दिन ज्यों-त्यों करके गुजरते रहते हैं, शरीर यात्रा किसी प्रकार चलती रहती है, किंतु निरंतर श्रमरत न रहने की कुटेव उनके लिए कोई ऐसी उपलब्धि नहीं बुला सकती, जिसके आधार पर समुन्नत कहलाने का श्रेय मिल सके। जब

व्यवस्था बुद्धि की गरिमा / १७

आलस्य शरीर से आगे बढ़कर मन तक पर सवार हो जाता है, तब उसे प्रमाद कहते हैं। प्रमादी को न अवगति अखरती है और न उन्नति के लिए उमंग उठती है। यथास्थिति बने रहने में ही उसका चिंतन सिकुड़ जाता है। न उसे सीखने की इच्छा होती है और न ऐसी योजना बनाने की जिसके आधार पर आज की तुलना में आने वाला अगला कल अधिक समर्थ और समुन्नत बन सके। ऐसे लोगों को जब कभी दीनता-हीनता का आभास होता है तो किन्हीं अन्य को कारण मानकर उसी पर दोषारोपण करने लगते हैं। भाग्य, विधि-विधान, ईश्वर की इच्छा, समय का फेर, ग्रह नक्षत्र द्वारा उत्पन्न किए गए अवरोधों की बात सोचकर संतोष कर लिया जाता है। बहुत हुआ तो शासन, समाज, वातावरण, कलियुग या किन्हीं व्यक्ति को दोषी मानकर उसके प्रति बैर भाव जमा लिया जाता है। आलसी और प्रमादी प्रायः इसी अवसाद एवं अचिंत्य चिंतन में घिरे रहकर किसी प्रकार जिंदगी के दिन पूरे कर लेते हैं।

इसके बाद विकृत मस्तिष्क के लोगों की बड़ी संख्या सामने आती है। उन पर दुर्भाग्य या आक्रोश छाया रहता है। असंतोषजन्य खीझ जीवनक्रम को असाधारण रूप से प्रभावित करती है। शत्रुओं की संख्या अनायास ही बढ़ती है, या फिर वे किसी प्रसंग पर चिढ़कर कुछ छेड़खानी आरंभ करते हैं। आक्रमण-प्रत्याक्रमण का कुचक्र चल पड़ता है। विचारणा इसी जंजाल में उलझ जाती है। योजनाएँ इसी परिधि में बनती रहती हैं। ऐसी दशा में यह सोचने या सूझने की गुंजाइश ही नहीं रहती कि प्रगति के लिए क्या किया जा सकता है और उसे किस प्रकार संपन्न करना चाहिए। घृणा और आक्रोश, कितनों की ही बहुमूल्य शक्तियों का विघटन और विनाश करने या उससे बचने में ही उलझाए रहता है।

ऐसा ही एक और भी भारी व्यवधान है, जो मनुष्य की आधी से अधिक शक्तियों का अपहरण कर लेता है। उसका नाम है लिप्सा-लालसा, जो कभी तृप्त होने का नाम ही नहीं लेती। कामुकता

का यौनाचार स्वरूप तो स्वल्प है। उसे तो कुछ क्षणों में ही तृप्ति मिल जाती है, पर उसका चिंतनपरक अश्लील कलेवर ऐसा है जो मस्तिष्क पर कल्पनाओं के रूप में समय-कुसमय छाया ही रहता है और महत्त्वपूर्ण चिंतन को कुछ करने के लिए अवकाश ही नहीं देता। धन की ललक भी ऐसी ही है। उसका कितना ही संग्रह क्यों न बन पड़े, पर तृष्णा कितना ही मिलने पर भी बलवती बनी रहती है। ठीक उसी प्रकार महत्त्वाकांक्षाओं का समुच्चय है जो बड़प्पन प्रदर्शन, अधिक अधिकार के द्वारा अपने को अधिक प्रतापी बनाने के लिए उद्वेग स्तर पर छाया रहता है। न दिन चैन पड़ता है और न रात। चुनाव के दिनों में प्रत्याशियों को किस प्रकार पापड़ बेलने पड़ते हैं, इसे सभी ने देखा होगा।

यह आवेशग्रस्त मनःस्थितियाँ हैं। वे चिंता, निराशा, आशंका, भय, क्रोध, आवेश, तनाव आदि के रूप में हैं तो कितने ही प्रकार की, पर उनमें से चार प्रमुख हैं। (१) बैर भावना, (२) कामुकता, (३) तृष्णा, (४) बड़प्पन की असीम महत्त्वाकांक्षा। इनका अनुपात जितना बढ़ा-चढ़ा होगा, मनुष्य उसी अनुपात में नशेबाजों जैसी खुमारी से ग्रस्त रहेगा। मन पर बुखार चढ़ा रहेगा और शरीर ऐसा अशक्त दीख पड़ेगा, मानो लंघन में पड़ा हुआ रोगी हो। आलसी-प्रमादी, पक्षाघात पीड़ित-अपंगों की तरह एक प्रकार से किसी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि की दृष्टि से अशक्त-असमर्थ ही माने जाते हैं। उस पर स्वार्थ, लोलुपता, कामुकता, बेतुकी महत्त्वाकांक्षाओं की तिजारी चढ़ बैठे, तो समझना चाहिए कि दुहरा संकट सवार हो गया। वे अपने जीवनक्रम को ही सुव्यवस्थित न रख सकेंगे, फिर उच्चस्तरीय प्रगति की योजना बनाना तथा लोकमंगल के क्षेत्र में प्रवेश करके, कोई कहने लायक श्रेय साधन अर्जित कर सकना तो और भी अधिक कठिन पड़ेगा। इन आधि-व्याधियों से छुटकारा पाने का उपाय एक ही है कि जो अवसाद-आवेश, शरीर और मन पर छाए रहते हैं, उन्हें उतार फेंका जाए और संतुलन इस प्रकार

बनाया जाए कि गहराई में उतर सकना, गंभीरतापूर्वक विचार कर सकना, समस्याओं का समाधान खोज सकना संभव हो सके। प्रगति का मार्ग ऐसी ही मनःस्थिति में खोजा और अपनाया जा सकता है।

शारीरिक, मानसिक विशेषताओं वाले, स्रष्टा के अनुदानों का सही प्रकार सही उपयोग बन सके, इसके लिए चिंतन को सदा हलका-फुलका बनाए रखने की आवश्यकता है। उसे सदा तीक्ष्ण बनाने और क्रियाशील रखने की आवश्यकता है। संयम अपनाने, सूझ-बूझ उभारने और दूरवर्ती परिणामों को ध्यान में रखते हुए जागरूकता बनाए रहने की आवश्यकता है। इसी मनःस्थिति को प्रतिभा कहते हैं। प्रस्तुत आधारों के अनेक पक्षों पर विचार करने के साथ ही अपनी तथा दूसरों की गतिविधियों का निर्धारण सुव्यवस्था के आधार पर बनाए रहना प्रतिभावानों के लिए संभव होता है। प्रमादी तो आरंभ का कुछ कार्य करते और शेष को फिर कभी के लिए किसी और की ओर खिसका देने के लिए अधूरा छोड़ देते हैं। फलतः वह आरंभ किया गया थोड़ा सा काम भी उपहास और तिरस्कार का निमित्त बनता है। जिम्मेदार व्यक्ति जिस कार्य को भी हाथ में लेते हैं, उसे पूरी तरह सँजोते हैं और आरंभ का उत्साह अंत तक बनाए रहकर, समग्रता का—कुशलता का प्रमाण देकर, अपनी जिम्मेदारी का परिचय देते हैं।

प्रतिभा निखारने के लिए जिस सूक्ष्म दृष्टि को अपनाना पड़ता है, उसका आरंभिक अभ्यास निरंतर बनी रहने वाली दो समस्याओं के साथ जोड़ा जाना चाहिए। शरीर से लंबे समय तक महत्त्वपूर्ण काम लेने हैं, इसलिए इस मशीन को इस प्रकार चलाया जाए कि उसमें न कहीं अड़चन खड़ी हो और न गतिशीलता में न्यूनता ही पड़े। इसके लिए इतनी सतर्कता भर से काम चल जाता है कि उसके आहार, विश्राम एवं क्रिया-कलाप को सही संतुलित रखा जाए। स्वस्थता की गारंटी, इन तीन प्रयोजनों को सही रखने तक से

चल जाती है। प्रतिभा का प्रथम चरण, स्वास्थ्य संरक्षण की सफलता को महत्त्व देकर जगाया जा सकता है। अगली सीढ़ी है चिंतन को गड़बड़ाने न देना। अवसादग्रस्त या उत्तेजित न होकर, शांत चित रहने पर ही सही निष्कर्ष निकालना और निर्धारण करना संभव होता है। जब तक कार्य की सुसंतुलित रूप रेखा न बने, तब तक उसको उस रूप में संपन्न नहीं किया जा सकता कि करने वाले की गरिमा एवं दक्षता बढ़ी-चढ़ी समझी जा सके। अच्छी तरह किए गए काम ही सफल होते तथा अपनी विशिष्टता का परिचय देकर प्रशंसा का पात्र बनते हैं।

शरीर और मन की व्यवस्था बना लेना, बाह्य जीवन या बाह्य संसार की सफलता का पूवार्द्ध पूरा कर लेना है। यह दोनों हर घड़ी साथ रहते हैं। अवसर मिलते ही इन्हें टटोलने और सुधारने के क्रम निर्धारित किए जाते रह सकते हैं। अनुशासन की साधना और गतिविधियों का निर्धारण, इन दो माध्यमों के सहारे बुद्धि की तीव्रता विकसित की जाती रहे तो समझना चाहिए कि उसकी तीक्ष्णता कुछ ही समय में इतनी बढ़ी-चढ़ी स्थिति अपना लेगी, जिसके सहारे उलझनों को सुलझाना और श्रेयस्कर दिशा धारा अपना सकना संभव हो सके।

नित्य कर्म तथा दैनिक क्रिया-कलाप से जोड़ने वाली वस्तुओं को साफ-सुथरा, सुनियोजित व्यवस्थित रखना तीसरा काम है, जिसके सहारे सुव्यवस्थित बुद्धि के विकसित होने का प्रमाण मिलता है। कपड़ों का साफ-सुथरा होना तथा करीने से पहना जाना इस बात का प्रमाण है कि व्यवस्था बुद्धि ठीक तरह काम करने की दिशा में चल पड़ी है। कागज, पुस्तकें, हजामत बनाने के सामान, जूते-चप्पल, बिस्तर, बरतन, साबुन आदि ऐसी अनेक वस्तुएँ होती हैं, जो दैनिक जीवन में आमतौर से काम आती रहती हैं। इनकी स्थिति अस्त-व्यस्त न रहे, तो देखने वालों को जागरूकता के स्तर का पता चलता है। इसके एक कदम आगे घर, दफ्तर, फर्नीचर

आदि का नंबर आता है। उन्हें टूटी-फूटी स्थिति में नहीं रहना चाहिए, अस्त-व्यस्त भी नहीं। सही जगह पर सही रीति से रखी हुई वस्तु सज्जा कहलाती है। यदि उसी को अस्त-व्यस्त ढंग से बिखरा दिया जाए तो फिर समझना चाहिए कि वस्तुतः वे अपनी मूक भाषा में हर दर्शक के कान में चुगली करती हैं—‘जो हमारी और हम जैसी सदा काम आने वाली वस्तुओं की साज-संभाल नहीं कर सकता, उसकी जिम्मेदारी, तत्परता और सफलता पर विश्वास कोई किस प्रकार कर सकता है?’

गंदगी और टूट-फूट पर हर घड़ी ध्यान रखा जाना चाहिए। वस्तुएँ साफ करने तथा सही स्थिति में रखने के लिए तुरंत प्रयत्न होना चाहिए। ऐसे काम प्रायः नौकरों पर या घर के दूसरे लोगों पर छोड़ दिए जाते हैं। समय काटने के नाम पर यह सब होता रहता है। ऐसी टाल-मटोल करने वाले अपने स्वभाव और कौशल में जो तीक्ष्णता का समावेश कर सकते थे, उस लाभ का अनुमान लगाना भूल जाते हैं। प्रश्न यह नहीं कि दूसरों के कंधों पर खिसकाया गया काम कम महत्त्व का था या अधिक मूल्यवान। दूसरों की ओर खिसकाए गए काम के संबंध में यह आशा नहीं की जा सकती कि वह सही समय पर सही रीति से संपन्न हो जाएगा। जो अनख-आलस स्वयं अपनाया गया है, उसे सहयोगी लोग क्यों न अपनाएँगे? इस प्रकार व्यवस्थाओं के अनेक छोटे-मोटे कामों में औरों को फँसाने और स्वयं निश्चित हो जाने की आदत ऐसी है, जो प्रतिभा के विकास एवं व्यवस्था बुद्धि के परिष्कार में बहुत बड़ी अड़चन उत्पन्न करती रहती है।



व्यवस्था बुद्धि के विकास के मूलभूत आधार



आत्मविस्तार के क्रम में प्रथम शरीर, द्वितीय चिंतन, तीसरे उपयोग में आने वाले साधनों की बारी आती है। इन तीनों के आधार पर लोग बड़े बनते और बड़े काम संपन्न करते हैं। यही गुण-कर्म-स्वभाव में परिलक्षित होते हैं।

गुण-कर्म-स्वभाव को सुसंस्कृत बना लेना ऐसी, बड़ी जादुई सफलता है, जिसके सहारे शत्रुता बरतने वालों को ठंडा और अन्यमनस्क लोगों को मित्रों में परिणत किया जा सकता है। दुर्गुणी व्यक्ति अपने समर्थक, प्रशंसक, सहयोगी घटाता जाता है। विरोधी बढ़ते जाते हैं। ऐसी दशा में मनुष्य घाटे में ही रहता है। आग जहाँ भी रहती है सर्वप्रथम उसी को जलाती है। दुर्गुणों के संबंध में भी यही बात है। भले ही वे प्रत्यक्षतः किसी को उतनी बड़ी हानि न कर सकते हों, पर उससे विरोध, बैर भाव का वातावरण तो बनता ही है। इनसे किसी को भी कुछ लाभ नहीं है।

अव्यवस्थित वाणी सबसे अधिक खतरनाक है। निंदा-चुगली से अन्य लोगों के प्रति तो विद्वेष पैदा होता ही है, साथ ही लोगों को यह भी अनुभव होने लगता है कि अपनी कही बात इसके पेट में पड़ जाने पर इधर-उधर फैले बिना रहेगी नहीं। इस आशंका के कारण उसे अविश्वासी बनकर रहना पड़ता है और कोई स्वजन भी उसके सामने पेट खोलकर बात नहीं करता।

व्यवस्था बुद्धि की गरिमा / २३

क्रोध, आवेश के द्वारा होने वाली क्षति का हाथों-हाथ दुष्परिणाम देखा जा सकता है। कटु वचन कहते देर नहीं होती कि प्रत्युत्तर और भी बड़े रूप में सामने आने लगता है। कई बार तो कटु वचनों का प्रभाव इतना भयंकर होता है कि वह स्थायी जड़ जमा लेता है और समय आने पर प्रतिशोध का सर्प बनकर डसता रहता है। द्रौपदी द्वारा दुर्योधन को कहे गए व्यंग्य वचन, कालांतर में महाभारत जैसे महाविनाश के निमित्त कारण बने।

अपना अहंकार और दूसरों का असम्मान ही मिलकर, कटु वचन और अशिष्ट व्यवहार के रूप में प्रकट होता है। यह दोनों ही परस्पर एकदूसरे से बढ़कर हैं। इनके योग से मिला हुआ कटु भाषण यों दृश्य रूप में तो कोई बड़ी बात प्रतीत नहीं होता, पर उसकी परिणति ऐसी होती है, जिसके कारण खोदी गई खाई कदाचित कभी न पाटी जा सके।

शिष्टता और शालीनता का ध्यान रखकर बोली गई वाणी सदा नम्रता और मधुरता से भरी-पूरी ही होती है। उसका प्रभाव बदले हुए तेवरों को यथा स्थान लाने में समर्थ होता है। मधुरभाषी लोग वैमनस्य को शांत करते और सद्भावना का नए सिरे से शुभारंभ करते देखे गए हैं। इस बुराई को छोड़ देना और उसे अच्छाई के रूप में बदल लेना यह कुछ ही दिनों के अभ्यास पर निर्भर है। अपने आप पर नम्रता का आरोपण करते हुए, दूसरों को मानवोचित सम्मान प्रदान करते हुए, सोच-समझकर बिना उतावली अपनाए बोला जाए, तो उसका सत्परिणाम सुखद प्रतिक्रिया के रूप में परिलक्षित होता देखा जा सकेगा। शिष्टता, सज्जनता, मधुरता जैसी विशेषताओं से संभाषण कर सकना थोड़े दिनों के अभ्यास पर निर्भर है। कटु वचनों को सर्प के दाँत और बिच्छु के डंक के समतुल्य माना जाए, तो कुछ अत्युक्ति न होगी। जिनमें यह दुर्गुण थोड़े अंशों में भी स्वभाव का अंग बन गया हो, उन्हें उसका निराकरण करने के लिए तत्काल प्रबल प्रयत्न आरंभ कर देना

चाहिए। यह कौए का कोयल में, बगुले का हंस में कायाकल्प हो जाने जैसी कहावत का प्रत्यक्ष दर्शन है।

अव्यवस्था का दूसरा नाम है—असंयम। अनुशासनहीनता और उच्छृंखलता भी इसी को कहते हैं। यही कभी अराजकता जैसी दुर्गंध और दूरगामी दुष्परिणाम उत्पन्न करती देखी गई है। असंयम का स्वरूप होता है—उपलब्ध उपयोगी वस्तुओं को निरर्थक या हानिकर प्रयोजनों में बिखेर देना। इसे स्वेच्छापूर्वक लुटेरों का शिकार होने जैसी मूर्खता भी कहा जा सकता है।

असंयमों में चार प्रमुख हैं—(१) इंद्रिय असंयम, (२) समय असंयम, (३) अर्थ असंयम, (४) विचार असंयम। समझा जाना चाहिए कि ये चारों ईश्वरप्रदत्त अति महत्त्वपूर्ण शक्तियों को बड़े छिद्रों वाले फूटे घड़े में डालकर बहा देने के समान है। यदि इन छिद्रों को बंद कर दिया जाए, तो दैवी अनुकंपा की तरह निरंतर बरसती और अंतराल के उद्गम में उभरती रहने वाली क्षमताओं के भंडार किसी भी व्यक्ति को अति समर्थ एवं असाधारण कार्य कर सकने योग्य बना सकते हैं।

देखा यह जाता है कि सामान्य जन, चटोरेपन की आदतों में रहकर अपना स्वास्थ्य खोखला कर लेते हैं। दुर्बल और रोगी रहकर अकाल मृत्यु मरते हैं। यदि जिह्वा और जननेंद्रिय को संयम में रखा जा सके, तो शरीर समर्थ एवं मन समुन्नत स्तर का बना रहेगा। अर्थसंयम रखा जाए—सादा जीवन उच्च विचार की नीति का परिपालन किया जाए—औसत नागरिक स्तर का निर्वाह अपनाया जाए, तो ईमानदारी से सीमित आजीविका कमाते हुए भी व्यक्ति सुखी और संतुष्ट रह सकता है।

समय ही जीवन है। एक-एक क्षण को बहुमूल्य मणि मुक्तक मानकर सदुपयोग करते रहा जाए, तो व्यक्ति एक ही जीवन में कई जीवनों के बराबर महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकता है। व्यस्त

रहने वालों को न तो खुराफातें सूझती हैं और न कुसंग में पड़कर दुर्व्यसन सीखने की संभावना रहती है।

विचारों की शक्ति असाधारण है। यदि मस्तिष्क में कल्पनाएँ, आकांक्षाएँ, योजनाएँ उच्चस्तरीय बनती रहें, तो पतन की आशंका समाप्त होगी और सर्वतोमुखी अभ्युदय की पृष्ठभूमि बनती चलेगी। विचार ही व्यक्ति को ऊँचा उठाते हैं, आवश्यक संपर्क बनाते और साधन जुटाते हैं। उन चारों का असंयम ही व्यक्ति की अगणित क्षमताओं का अपहरण कर लेता है। इन्हें बचाया जा सके, तो समझना चाहिए कि लुट जाने वाला वैभव अपने ही हाथों में रह गया।

व्यवस्था बनाने व सिखाने के लिए आमतौर से किसी कारखाने, उद्योग परिसर, विभाग आदि की आवश्यकता पड़ सकती है। वह शिक्षार्थी को उपलब्ध हो ही जाए, यह आवश्यक नहीं। फिर जहाँ प्रबंध करने के लिए पहुँचा गया है, वहाँ आवश्यक साधन एवं सहयोग मिल ही जाए, इसका कोई निश्चय नहीं। ऐसी दशा में यही सबसे सरल पड़ता है कि अपने आप में ही व्यवस्था प्रक्रिया का अभ्यास किया जाए। अपने शरीर पर अपना पूरा अधिकार है। तनिक सी इच्छाशक्ति का दबाव देते ही उसे कुछ भी करने के लिए तत्पर किया जा सकता है। शरीर सध गया, तो समझना चाहिए कि सुदृढ़ स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन का आधार स्रोत हाथ लग गया। पैसे का अपव्यय न हो, तो कम कमाने वाला व्यक्ति भी आय के अनुरूप व्यय का बजट बनाकर काम चलाता और सुखी-संतुष्ट रह सकता है। समय की बरबादी न हो तो योग्यता, संपदा और साधनों के उपार्जन में आश्चर्यजनक सफलता मिल सकती है। विचारों का उत्पादन हम स्वयं करते हैं। उनकी लगाम पूरी तरह अपने हाथ में है। इस बहुमूल्य पूँजी को अस्त-व्यस्त रूप में बिखेरने के स्थान पर यदि उन्हें किन्हीं रचनात्मक कामों में लगाते रहा जाए, तो कोई भी व्यक्ति अपने अभीष्ट प्रयोजनों में आशातीत सफलता प्राप्त कर सकता है।

दूसरों को समझाना, सँभालना, सुधारना कठिन हो सकता है, पर अपने सुधार-परिष्कार में तो मनोबल की कमी के अतिरिक्त और कोई बाधा नहीं हो सकती। हिम्मत और दूरदर्शिता को अपनाए रहा जाए, तो अपने शरीर और मन को नहीं, गुण-कर्म-स्वभाव को भी उच्चस्तरीय बनाने में सफलता मिल सकती हैं। आदतें बदली और सुधारी जा सकती हैं। जिस वातावरण में हम रहते हैं, वह अपना ही चुना और पसंद किया हुआ है। यदि उत्कंठा हो तो उसे पूरी तरह बदला जा सकता है। जिस प्रकार पिछले दिनों हेय स्तर का संपर्क बनाया गया था, उसी प्रकार उच्चस्तरीय वातावरण के साथ भी संपर्क साधा और प्रगतिपथ पर बढ़ चलने के लिए उत्साहवर्द्धक वातावरण में प्रवेश किया जा सकता है। परिष्कृत व्यक्तित्व और वातावरण के साथ जुट जाना ही अभ्युदय की अनेकानेक संभावनाओं से भरा-पूरा रहना है।

काम में आने वाली वस्तुओं को भी अपने लिए परीक्षा के प्रश्नपत्र मानकर चलना चाहिए, जो सदा यह देखती रहती हैं कि हमें सँभालकर-सँजोकर ठीक तरह देखा गया या नहीं? जिनकी उपेक्षा की गई है, वे कुरूप लगेंगे और समय से पहले ही समाप्त होकर पलायन कर जाएँगे। इसके विपरीत यदि उन्हें सम्मान दिया गया है, सँभालकर सम्मानपूर्वक यथास्थान रखा गया है, तो बदले में वे हाथों हाथ उसे सदाशयता का प्रतिफल प्रदान करेंगे। लोगों की आँखों में सुसंस्कारिता-कलाकारिता की छाप बिठाएँगे। बाहर वाले उस स्थान में प्रवेश करते ही यह अनुभव करेंगे कि यहाँ कोई सभ्य, सुसंस्कृत एवं कलाकार स्तर का व्यक्ति निवास करता है। इसके विपरीत बिखरी हुई, बेतरतीब पड़ी वस्तुएँ हर किसी से यह चुगली करती हैं कि जिसके यहाँ वह आया है, वह आदत में फूहड़ किस्म का और सभ्यता की कसौटी पर अनगढ़ स्तर का है। भले ही वह पैसे वाला या अधिक पढ़ा-लिखा ही क्यों न हो।

परिवार में कई सदस्य रहते हैं। उन सभी को साफ-सुथरा और कायदे का बनाना पड़ता है। उनमें से कुछ ही बेशऊर होते और आने वाले पर पूरे परिवार के संबंध में बुरी छाप छोड़ते हैं। ठीक उसी प्रकार यदि प्रयोग में आने वाली वस्तुएँ अस्वच्छ एवं अव्यवस्थित स्थिति में रखी हुई हैं, तो वे निर्जीव होते हुए भी सजीव मुखर लोगों की तरह से इशारे ही इशारे में सारी पोल खोलकर रख देंगी। धन, पद और शिक्षा आदि के आधार पर बड़प्पन की छाप डालने की जो कोशिश की गई थी, उस पर पानी फिर जाएगा। मैली-कुचैली, अस्त-व्यस्त, टूटी-फूटी, बेसिलसिले रखी हुई वस्तुएँ घर में रहने वालों के घटिया स्वभाव और व्यवस्था बुद्धि से अपरिचित होने का इजहार करती हैं। स्वयं ही अपने आप को अपेक्षित अनुभव करती हैं और वहाँ से जल्दी ही कहीं चले जाने का मन बनाती हैं। भले ही वे किसी और के हाथ में पड़ें या कबाड़ी की दुकान में जाकर आधे चौथाई दाम में बिकें। अनेक लोग पुरानी वस्तुओं को गँवाते और नई खरीदते रहने में इतना पैसा लेटाते हैं, जिसकी बचत से कितनी ही उपयोगी एवं आवश्यक वस्तुएँ खरीदी जा सकती थीं।

सभ्यता का पहला शिक्षण यही है कि अपने घर में रखी जाने वाली वस्तुओं में से प्रत्येक को सही प्रकार से, सुनियोजित और सुव्यवस्थित ढंग से सजाकर रखा जाए। यदि यह सब सीखा जा सके, तो समझना चाहिए कि व्यवस्था बुद्धि में एक महत्वपूर्ण मंजिल पार कर ली। अध्यात्म का क, ख, ग यहीं से आरंभ हुआ समझना चाहिए। एक सुव्यवस्थित व्यक्ति ही श्रेष्ठ साधक बन सकता है।



सूझ-बूझ का सुनियोजित विस्तार हो



विकास की दिशा में अग्रसर होने की प्रमुख पहचान यह है कि हर व्यक्ति अपने वर्तमान और भविष्य के संबंध में व्यापक विचार करे। संभावित कठिनाइयों का अनुमान लगाए और उसके निराकरण का समय रहते उपाय-उपचार सोचे। भविष्य को अधिक उज्ज्वल बनाने के लिए ऐसी रूपरेखा बनाए, जो वर्तमान परिस्थितियों और उपलब्ध साधनों के सहारे अग्रगामी बनाई जा सके। वर्तमान को भविष्य के साथ जोड़ते हुए ही सुनिश्चित कदम बढ़ाने के निर्णय तक पहुँचना चाहिए।

प्रगतिशील दृष्टिकोण अपनाने के अतिरिक्त देखना यह भी चाहिए कि हाथ में लिए हुए काम क्या हैं? उन पर तत्परता और तन्मयता केंद्रित करने से ही यह संभव है कि बुद्धि की तीक्ष्णता, व्यवहार की कुशलता का अभ्यास बढ़े। हाथ में आए कार्यों को सफलतापूर्वक संपन्न करते रहने से जहाँ अपना साहस बढ़ता है, वहाँ दूसरी ओर कर्त्ता की वरिष्ठता पर विश्वास होता है और उस उत्साह में अन्य लोग अधिक सहयोग देने या लेने के लिए लालायित रहने लगते हैं। यह उज्ज्वल भविष्य की ओर इंगित करने वाले अच्छे लक्षण हैं।

प्रतिभाशाली कहे जाने वालों में से प्रत्येक में व्यवस्था बुद्धि होती है। व्यवस्था तब बनती है, जब कार्य से संबंधित समयगत आवश्यकता के तथा भावी संभावनाओं के संबंध में जागरूकता बरती जाए और अधिक सही कल्पना कर सकने की क्षमता

व्यवस्था बुद्धि की गरिमा / २९

विकसित की जाए। साथ ही यह भी सूझ पड़े कि समस्याओं से निपटना और आवश्यकताओं को जुटाना किस प्रकार संभव हो सकता है? भूतकाल के अनुभवों से लाभ तो उठाया जा सकता है, पर ऐसा नहीं हो सकता है कि किसी समय की, किसी की क्रिया पद्धति का अनुकरण मात्र करके काम चला लिया जाए। परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं, साथ ही हर किसी की शैली एवं विशेषता भी अपनी होती है। एक व्यक्ति जिस प्रकार, जिस राह से आगे बढ़ा हो, उसी का अनुकरण करके वैसी सफलता दूसरे भी प्राप्त कर लेंगे यह आवश्यक नहीं। होना यह चाहिए कि आज की अपनी परिस्थितियों के अनुरूप कदम बढ़ाए जाएँ। इसके लिए प्रत्युत्पन्न मति और सामयिक सूझ-बूझ की आवश्यकता पड़ती है।

अनुपयुक्त साथियों का चयन भी आवश्यकता का ही निमित्त कारण बनता है। साधन थोड़े हों, हर्ज नहीं। साथी कम हों, तो भी काम चल जाता है, किंतु उनका स्तर सदा ऊँचा ही रखना चाहिए। उनका मिल सकना अपनी चयन संबंधी सूझ-बूझ पर निर्भर है। घटिया दृष्टि में यही प्रमुख दोष होता है कि घटिया व्यक्तियों की ओर आकर्षित हो जाती है। उन्हें अपेक्षाकृत सस्ता देखकर ललचाती है। अंततः उनके सहारे जो कुछ बन पड़ता है वह भी घटिया होता है और उनके द्वारा किया गया काम भी गए-गुजरे स्तर का होता है। इसलिए उपयुक्त कार्य के लिए उपयुक्त साथी चुनने चाहिए। यदि वैसा कुछ कर सकना संभव न हो तो अधिक अच्छा यह है कि उतावली में निजी कार्य हाथ में लेने की अपेक्षा, किसी व्यवस्था बुद्धि वाले तंत्र के साथ सहायक बनकर काम किया जाए। इसमें भले ही श्रेय कम मिले, वेतन सीमित होने से महत्वाकांक्षा भी बड़ी न सधे, पर अनुभव तथा सूझ-बुझ का बढ़ना तो निश्चित ही है।

उथले दृष्टिकोण वाले मात्र इतना ही कर पाते हैं कि जो प्रयोजन सामने है, उतने भर की ही बात सोचें। उसके साथ जुड़ने वाले अनेक पक्षों के संबंध में वे विचार नहीं कर पाते। पहले से

यदि संबद्ध विषयों पर विस्तारपूर्वक विचार नहीं किया गया है तो अनभ्यस्त परिस्थिति सामने आते ही किंकर्तव्यविमूढ़-हक्का-बक्का रह जाना पड़ता है। उस स्थिति को ताड़कर धूर्त लोग अनुचित लाभ उठाते हैं, गिरे में दो लात लगाने का मजा लूटते हैं।

विकसित व्यक्ति की पहचान यह है कि वह अपनी ही नहीं साथियों की प्रस्तुत या भावी समस्याओं के संबंध में समय रहते विस्तृत विचार करे और किसी ठोस निष्कर्ष पर पहुँचे। इतना ही नहीं इसकी पूर्व तैयारी में भी लगा रहे।

मार वही खाते हैं, जो व्यापक जानकारी और अभीष्ट अनुभव एकत्र करने में उपेक्षा बरतते रहते हैं। बहुज्ञ, दूरदर्शी, वस्तुस्थिति की गहराई तक पहुँचने वाले लोग उलझनों को व्यावहारिक स्तर पर सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। आवेशग्रस्त, आतुर या चिंता में डूबते-उतराते रहने वाले लोग अव्यवस्थित चित्त से प्रायः कुछ ऐसा कर बैठते हैं, जिससे कठिनाइयाँ हल होने के स्थान पर और भी अधिक बढ़ जाती हैं। मानसिक संतुलन बनाए रहने पर ही कोई छोटी से लेकर बड़ी व्यवस्थाएँ बना सकने में समर्थ हो सकता है।

युद्ध मोर्चे पर कितने ही सैनिक मरते और घायल होते रहते हैं। उनमें सेनापति के कोई निकटवर्ती या घनिष्ठ भी हो सकते हैं। उनका शोक मनाने वाला सेनापति क्षण-क्षण में बदलती रणनीति को सही रूप में सँभाल ही न सकेगा और स्वयं को तथा समूची सेना को खतरे में डालेगा। हानि हो या लाभ, दोनों ही परिस्थितियों में जो आवेशग्रस्त नहीं होते, उन्हीं के लिए यह संभव है कि वर्तमान का निरीक्षण और भविष्य का निर्धारण सही रूप में कर सकें। व्यवस्था के लिए मानसिक संतुलन बनाए रहने में समर्थ होना अनिवार्य रूप से आवश्यक है।

हर कार्य में विचार-विनियम की—सहयोग और आदान-प्रदान की आवश्यकता पड़ती है। यह मनुष्यों में ही एकदूसरे के बीच चलता है। सभी की प्रकृति एकदूसरे से भिन्न होती है।

स्वभाव सर्वथा एक जैसे ही हों यह आवश्यक नहीं। आपसी ताल-मेल बिठाने, कमियों को निभाने और सहयोग के लिए आकर्षित करने की नीति ही सदैव काम देती है। समझदार उसे कहा जाता है, जो टूटे को बनाने और रूठे को मनाने का प्रयत्न करता है। वैमनस्य में अपनी और पराये की हानि ही हानि है, जबकि स्नेह सद्भाव बने रहने में हर दृष्टि से लाभ ही लाभ है। इस तथ्य को उन्हें तो समझना ही चाहिए, जो किन्हीं व्यवस्थाओं को बनाए रहने का दायित्व सँभालते हैं।

शतरंज का खेल खेलने वाले को अनेक गोटियों की चाल पर एक साथ नजर रखनी पड़ती है। जो एकाध पर ही ध्यान रखते और बाकी के संबंध में कुछ सोचते नहीं, वे मात खाते हैं। प्रत्येक कार्य शतरंज की तरह है। उसके हर पक्ष पर ध्यान रखना पड़ता है। कल्पना शक्ति का इतना विकास करना होता है कि संबंधित सभी उतार-चढ़ावों पर पूरा ध्यान रहे।

नया कारखाना जमाना हो या बीमार फैक्टरी को नये हेर-फेर के साथ नये स्तर पर नया मोड़ देना हो तो उस निमित्त प्रखर कल्पना शक्ति द्वारा संबंधित सभी पक्षों पर समुचित ध्यान देना होता है और तदनुरूप जो परिवर्तन किया जाना हो उसका सरंजाम आद्योपांत जुटाना होता है। यदि इसमें एक दो छोटी-मोटी भूलें भी रह जाएँ तो उन्हीं के कारण काम रुका पड़ा रहता है और ढेरों समय बरबाद होता तथा ढेरों घाटा पड़ता है। कारखानेदारों को अपनी व्यवस्था के सभी पक्षों पर समग्र ध्यान देना पड़ता है। इतना सोचने से ही काम नहीं चल जाता कि उत्पादन कार्य होता रहे; वरन कच्चा माल खरीदने, बने माल को बेचने के लिए विक्रेता और ग्राहक जुटाने की समूची प्रक्रिया ध्यान में रखनी पड़ती है। सोचना यह भी होता है कि बाजार में माल का स्तर या मूल्य टिक सकेगा या नहीं? उधार देन-लेन को भी तो समय पर निपटाना पड़ता है। जिनकी इतनी विस्तृत और पैनी सूझ-बूझ है, व्यवस्था करना-

कारखानों को चलाना उन्हीं के लिए संभव है। जो एक ही काम को पकड़कर रह जाते हैं, वे कारखानेदार नहीं बन सकते, मात्र कर्मचारी भर रहकर दिन गुजारते हैं।

इमारतें बनाने वाले कारीगर जिंदगी भर उसी मजूरी में लगे रहते हैं। पर जिनका दिमाग चलता है, वे निर्माण कार्य से संबंधित सभी पक्षों को समझ लेते हैं। उसी अनुभव के आधार पर छोटे ठेके लेने लगते हैं और बड़े ठेकेदार बन जाते हैं। एक ही योग्यता वाले दो व्यक्तियों में से एक का जहाँ का तहाँ बना रहना और दूसरे का कहीं से कहीं जा पहुँचना, यह सुनियोजित कल्पना शक्ति के होने न होने का चमत्कार भर है।

आयोजनों, समारोहों, उत्सवों, प्रीतिभोजों में भी ऐसा ही बहुमुखी और भारी उतार-चढ़ाव वाला झंझट जुड़ा रहता है। जो संबंधित पक्षों की समग्र कल्पना कर सकते हैं और उन्हें जुटाने के लिए आवश्यक आधार खड़ा कर लेते हैं, उन्हीं को सफलता का श्रेय मिलता है। घटिया लोग थोड़ा सोचते और बहुत कुछ बिना सोचे छोड़ देते हैं, फलतः थोड़ी सी गलतियाँ सारा मजा किरकिरा कर देती हैं। नब्बे प्रतिशत किया गया परिश्रम, दस प्रतिशत रही हुई भूलों के कारण अपयश का निमित्त कारण बनता है। इसलिए अपेक्षा की जाती है कि व्यवस्थापक मन, सौंपे गए कार्य से जुड़ी हुई गतिविधियों को आदि से अंत तक सही कल्पना कर सकने की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए।

साहित्यकार अपनी संरचना का पहले आद्योपांत खाका खड़ा करते हैं, उसे बार-बार सुधारते और अधिक ऊँचे स्तर तक पहुँचाने के लिए भरपूर प्रयत्न करते हैं। जो ऐसा नहीं कर पाते उनकी रचनाएँ दोषपूर्ण रह जाती हैं। चित्रकारों, मूर्तिकारों, अभिनेता आदि कलाकारों के संबंध में भी यही बात है।

पदों में गवर्नर का पद सबसे बड़ा माना जाता है। इसका अर्थ भी मैनेजर से मिलता-जुलता है। जो इस कला में जितना प्रवीण है,

वह अपने कार्यक्षेत्र में उतनी ही अधिक सफलता प्राप्त करेगा और यशस्वी बनेगा। इस विशेषता के अभाव में ही साधन संपन्न होते हुए भी लोग घाटा उठाते और असफल रहते देखे गए हैं। नेताओं में यही गुण होता है कि वे न केवल अपने निजी काम सँभालते हैं, वरन सुनिश्चित क्षेत्र में उन्हें जिन गतिविधियों को अग्रगामी बनाना है, उसके लिए दौड़धूप करते और मानसिक ताना-बाना बुनते हैं। चुनाव जीतने की रणनीति ऐसे ही कौशलों पर, जोड़-तोड़ों पर निर्भर रहती है। किसानों से लेकर शिल्पियों तक में से जिन्हें अधिक सफलता मिलती है और जो अधिक सम्मान पाते हैं, ऊँचा उठते हैं, उन्हें उनकी विकसित सूझ-बूझ ही काम देती है।

शारीरिक दृष्टि से आलसी और मानसिक दृष्टि से प्रमादी भी निकम्मों जैसी भूमिका ही निभाते हैं। पूर्व तैयारी न कर पाने पर समय पर भाग-दौड़ भी बहुत करते हैं और आधा-अधूरा ही काम बन पड़ने के कारण घाटे में भी रहते हैं। जो विद्यार्थी अपनी पढ़ाई में सोते हैं, अस्तव्यस्तता बरतते हैं, उन्हें फेल होते ही देखा गया है। खिलाड़ियों को भी इन्ही कमियों के कारण असफलता का मुँह देखना पड़ता है।

जिंदगी जीना अपने आप में एक बहुत बड़ा व्यवसाय है। सूक्ष्मदर्शी, क्रिया कुशल, सुव्यवस्था का आश्रय लेने वाले ही अपने आयुष्य का ठीक तरह उपयोग कर पाते हैं। समय, श्रम, चिंतन और कौशल को सही दिशा में सही योजना बनाकर जो जीवन पद्धति का निर्धारण करते हैं, उन्हीं सूझ-बूझ के धनियों को महामानव बनने का श्रेय मिलता है। दीर्घसूत्री लोग तो हाथ मलते हुए ही देखे जाते हैं।



अपनों को उत्कृष्टता के ढाँचे में भी ढाला जाय



समाज को अनेक वस्तुओं की आवश्यकता रहती है और उसकी पूर्ति के लिए बहुमुखी चेष्टाएँ होती रहती हैं। इस प्रयास में उतना और जुड़ना चाहिए कि परिष्कृत व्यक्तित्वों का निर्माण सर्वोपरि है। उन्हीं के पास वैयक्तिक और सामूहिक प्रयोजनों को पूरा कर सकने की क्षमता एवं साहसिकता होती है। शेष लोग तो खरचने और बरबाद करने में ही लगे रहते हैं। वे उत्कर्ष के स्थान पर अपकर्ष खड़ा करने में ही अपने स्वभाव और प्रयास को निरर्थक करते रहते हैं। इनके द्वारा खोदी गई खाई को भी वे प्रतिभाएँ ही भरती हैं, जिनका व्यक्तित्व उस स्तर की विशेषता से संपन्न होता है। इन्हीं का उपार्जन देश-समाज की महती आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रमुख उपाय है।

प्रगति किसी भी क्षेत्र में क्यों न हो, उसे प्रतिभाशाली लोग ही संपन्न करते हैं; यहाँ तक कि हेय दुरभिसंधियाँ रच सकना भी उन्हीं से बन पड़ता है, फिर श्रेष्ठता की दिशा में बढ़ सकना तो उनके बिना बन ही कैसे पड़े? सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रसंग यही है। इतिहास में जिन्होंने भी कुछ अविस्मरणीय काम किये हैं, उन सभी में ऐसी प्रतिभा विद्यमान थी, जिसमें सज्जनता का समुचित समावेश रहा। इसी प्रयोजन में अभिभावकों और अध्यापकों की सबसे बड़ी भूमिका रहती है। क्योंकि उठती उम्र उन्ही के संरक्षण में गुजरती है। हरी लकड़ी को किसी भी दिशा में मोड़ा जा सकता है। गीली

व्यवस्था बुद्धि की गरिमा / ३५

मिट्टी से किसी भी प्रकार के बरतन या खिलौने बन सकते हैं; किंतु सूखी लकड़ी या मिट्टी जैसी भी कुछ है, वैसी ही बनी रहती है, टूट जाती है पर बदलती नहीं। यही बात मनुष्यों के संबंध में भी लागू होती है। तरुण हो जाने के उपरांत प्रायः कम ही लोग सुधर पाते हैं।

परिवार की तरह विद्यालय भी सामूहिकता के साथ जुड़े हुए सद्गुणों के विकास का एक महत्वपूर्ण स्थान है। प्राचीनकाल में बालकों को गुरुकुलों में पढ़ाने के लिए इसी दृष्टि से भेजा जाता था कि वहाँ की पारिवारिकता उच्चकोटि की रहने से उसमें रहकर छात्रों को व्यक्तित्व-विकास का समुचित आधार मिल सके। वहाँ अभिभावक की भूमिका अध्यापक निभाते थे। माता का दुलार संरक्षण एवं समर्थन उन्हें गुरुपत्नी से मिल जाता था। ऐसी दशा में छात्रों को घर छोड़ने का अभाव खटकता नहीं था।

इन दिनों शिक्षा प्रणाली की उस समग्रता में बहुत कुछ कमी रह जाती है। सरकार द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम पूरा करके, किसी प्रकार पास होना ही एकमात्र लक्ष्य रह जाता है। अध्यापक और छात्र इतने भर से ही अपने स्कूली कर्तव्य की पूर्ति मान लेते हैं। जबकि होना यह चाहिए कि अभिभावकों की कमियों को अध्यापक पूरा करें। इतना ही नहीं, सद्भाव भरा संबंध दोनों पक्षों में इस स्तर का बना रहे कि व्यक्तित्व विकास संबंधी परामर्श अध्यापकों द्वारा दिये जाने पर छात्र उसे अपना सकें।

पाठ्य-पुस्तकों की पढ़ाई आवश्यक तो है, पर समझना चाहिए कि इतना ही पर्याप्त नहीं। उठती आयु ही प्रवृत्तियों को अपनाने की अवधि होती है। बड़े होने पर तो जो आदतें अपना ली जाती हैं, वे ही परिपक्व होती रहती हैं। उनमें सुधार करना कठिन पड़ता है। बचपन और किशोरावस्था में शरीर यात्रा के उपरांत का अधिकांश समय स्कूली परिसर में ही बीतता है। वहाँ अध्यापक वर्ग आमतौर से अभिभावकों की तुलना में अधिक योग्य भी होता है। इसलिए

आशा की जाती है कि उनके संपर्क में शिक्षार्थी न केवल पढ़ाई अच्छी तरह पूरी करेंगे, वरन उन सद्गुणों का अभ्यास भी करेंगे, जो घर की तुलना में स्कूलों के सहकारी वातावरण में अधिक अच्छी तरह उपलब्ध हो सकता है। अध्यापक यदि इस ओर भी ध्यान दें और सच्चे मन से प्रयत्न करें तो अभिभावकों की कमी को इन विद्या मंदिरों में पूरा किया जा सकता है। शिक्षा की समग्रता इसी प्रकार बनती है, अन्यथा उसे मात्र पढ़ाई का शिल्प-शिक्षण भर कहा जा सकता है।

कारीगरों के साथ रहकर श्रमिक जिस प्रकार उस विषय की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं, यदि उतना ही स्कूलों में भी बन पड़ा तो समझना चाहिए कि गुरु-शिष्य परंपरा की गरिमा समाप्त हो गई। पढ़ाई तो घर रहकर भी की जा सकती है। ट्यूटर लगाकर या पत्राचार उपक्रम के सहारे भी पूरी की जा सकती है। स्कूलों की उपयोगिता तभी बनती है, जब वहाँ छात्रों को अपने व्यक्तित्व विकास का भी समुचित अवसर मिलता रहे। यह कार्य पढ़ाई जारी रहने के साथ भी चलता रह सकता है। इसके लिए छात्रों की उत्सुक जिज्ञासा और अध्यापकों की गुरु गरिमा को सजीव-सक्रिय बनाए रखने की अत्यंत आवश्यकता है। भले ही इसके लिए सरकारी अनिवार्यता न हो, पर उस पर कोई रोक भी तो नहीं है। अच्छाई सीखने और सिखाने के प्रयत्न तो सदा सराहे ही जाते हैं। इसमें छात्रों का हित होता है, अध्यापक की गरिमा बढ़ती है, अभिभावक इस सुयोग के लिए कृतज्ञ रहते हैं। समाज यह अनुभव करता है कि राष्ट्र को सुयोग्य नागरिक प्रदान करने की महती सेवा-साधना शिक्षण तंत्र द्वारा संपन्न की गई।

कारखानों में मशीनें, श्रमिक और अफसर काम करते हैं। उनके हर पक्ष की साज-सँभाल किए रहने वाले को ही मैनेजर कहते हैं। वह यह भी प्रयत्न करते हैं कि बने माल को खपाने के लिए ग्राहकों को संतुष्ट रखने की व्यवस्था भी बनी रहे। कर्मचारियों

को कर्तव्यनिष्ठ तथा कार्यकुशल बनाए रखना भी उनका दायित्व होता है। उसकी प्रतिष्ठा एवं पदोन्नति भी इसी पर निर्भर है। यही बात परिवार संचालन एवं स्कूली अध्ययन-अध्यापन पर लागू होती है। उस तंत्र का सुसंचालन ही उसकी सर्वतोमुखी सफलता का आधार है। प्रबंधक बुद्धि यों आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक कार्यों में भी इतनी ही अभीष्ट समझी जाती है, पर तब उसकी जिम्मेदारी और भी अधिक बढ़ जाती है, जब मनुष्य को अधिक शिष्ट, सभ्य और आदर्शवादी बनाने का लक्ष्य सामने हो। सरकार के प्रशिक्षकों को इसलिए अधिक सराहा जाता है कि वे अनगढ़ ही नहीं, खूँखार जानवरों को भी कलाकारों जैसे कौतुक करने के लिए अभ्यस्त बना लेते हैं। पारिवारिक वातावरण एवं स्कूल परिकर की सार्थकता-प्रतिष्ठा तब ही है, जबकि अनगढ़ स्तर के समुदाय को सुसंस्कारी बनाने में इस स्तर तक सफल हो सकें कि उनके माध्यम से प्रतिभाओं का निर्माण हो।

अभिभावक बच्चों को हँसाने, खिलाने, सजाने जैसे कृत्यों में ही लगे रहते हैं। उन्हें यह नहीं सूझता कि आँगन में खेलने वाले बालकों को यदि सुसंस्कारिता के साँचे में ढाला जा सके, तो वे अपनी गरिमा बढ़ाने और दूसरों की असाधारण सेवा साधना कर सकने में समर्थ हो सकते हैं। इसके लिए केवल हँसाने-खिलाने के कौतुक काम नहीं देते, वरन उनकी प्रवृत्तियों का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करते हुए, उनमें उत्कृष्टता के बीज सावधानीपूर्वक बोए जाने चाहिए। यह कार्य उथली दृष्टि से नहीं हो जाता, वरन उसी प्रकार करना होता है जिस प्रकार स्वर्णकार सोने की डेली को अपने हस्त-कौशल के सहारे आकर्षक आभूषणों के रूप में गढ़कर यशस्वी एवं लाभान्वित होता है। बालकों के संबंध में भी यही नीति अपनाई जानी चाहिए।

अध्यापकों का काम भी इससे कम गंभीर एवं कम जटिल नहीं है। मोटेतौर पर निर्धारित पाठ्यक्रम को पूरा करा देना ही

उनका काम माना जाता है। छात्र भी उतने से ही संतुष्ट हो जाते हैं और अभिभावक इससे अधिक आशा-अपेक्षा नहीं करते। यह शिथिलता उपेक्षा एवं अपूर्णता, तीनों ही पक्षों पर लांछन लगाती है और छात्र के भविष्य तथा समाज के प्रति कर्तव्यपालन में एक बाधा बनकर अड़ी रहती है। अच्छे श्रेणी से पास होने और अच्छी-अच्छी नौकरी पा लेने भर से उसकी उपयोगिता सिद्ध नहीं हो सकती। कमाई की दृष्टि से तो कई बहुत कम पढ़े व्यवसायी भी उनसे कहीं अधिक कमा लेते हैं। शिक्षा की सार्थकता तब बनती है, जब उसकी छत्रछाया में अधिक सुसंस्कृत, अधिक प्रतिभावान एवं अधिक क्रिया कुशल व्यक्तित्व का निर्माण हो। इसके लिए उपयुक्त वातावरण बनाना अध्यापक तंत्र का कर्तव्य है।

सामूहिक उपदेश देने भर से बात नहीं बनती, वरन यह भी आवश्यक हो जाता है कि प्रत्येक छात्र की मनःस्थिति एवं रुझान प्रवाह पर भी ध्यान दिया जाय। उसके साथ आत्मीयता का संबंध सूत्र जोड़ा जाय और परिस्थितियों के अनुरूप, ऐसा ज्ञान देते रहा जाय, जिससे भटकाव से बचना और प्रगतिपथ पर सही रूप से चल सकना संभव हो सके। इसके लिए मार्गदर्शक का निज का व्यक्तित्व ऐसा होना चाहिए, जो न केवल ज्ञान की दृष्टि से वरन चरित्र की दृष्टि से भी प्रभाव छोड़ने में समर्थ हो। जिन विद्यालयों के छात्र न केवल बुद्धिमान, वरन चरित्रनिष्ठ एवं समाजनिष्ठ बनकर निकलें, समझना चाहिए कि शिक्षा को सार्थक करने वाली विशिष्टता बन पड़ी। हर शिक्षक, हर विद्यालय इन विशेषताओं को उत्पन्न करने के लिए प्राण-प्रण से प्रयत्न करे तभी उसका गौरव है।

उद्योग व्यवसाय के क्षेत्र में भी कारखानों, दफ्तरों के अंतर्गत बड़ी जनसंख्या काम करती है। यदि वहाँ श्रमिकों को रोटी और मालिकों को रोजी भर मिल सकी, तो समझना चाहिए कि वहाँ शरीर रक्षा के काम आने वाले निर्वाह भर की व्यवस्था है। इतना ही

पर्याप्त नहीं, होना यह भी चाहिए कि जितने व्यक्ति जिस परिकर में काम करते हैं, उन्हें जीवन के हर क्षेत्र में कर्तव्यपरायण होने की शिक्षा प्रेरणा भी मिलती रहे। वे न केवल कारखाने के प्रति निष्ठावान रहें, वरन अपने निजी जीवन में भी क्रियाकुशल, सुव्यवस्थित एवं नीतिवान बनकर रहें। राष्ट्रीय प्रगति का वास्तविक आधार उत्पादन भर बढ़ा लेना नहीं है, वरन यह भी है कि नागरिकों में आदर्शवाद के प्रति निष्ठा और समाज में सद्भाव बनाए रहने वाली शालीनता अपनाये रहने की लोकरुचि समुन्नत स्तर की बनी रहे। ऐसा प्रशिक्षण एवं वातावरण भी उन सभी परिसरों में होना चाहिए, जहाँ अनेक लोग एकत्रित होते हैं। भले ही वे रोटी पाने के लिए आते हो, पर उन्हें वहाँ से वेतनों के अतिरिक्त ऐसा उत्साह भी साथ लेकर लौटना चाहिए जो निजी जीवन को मानवी मर्यादाओं के अनुरूप विकसित कर सके और अपने संबंधित क्षेत्र में श्रेष्ठता की छाप छोड़ सके। जहाँ प्रत्यक्ष प्रयोजनों के लिए कार्यक्रम बनते हैं, वहीं एक कड़ी यह भी जुड़ी रहनी चाहिए कि बिना किसी दबाव के जुड़े हुए घटक सिद्धान्तवादी और कर्तव्यपरायण बन सकें। इस व्यवस्था के बन पड़ने पर वे दफतर एवं कारखाने सराहने योग्य बन सकते हैं, जहाँ अभीष्ट उत्पादन ही नहीं होता वरन लोगों को चरित्रों की उत्कृष्टता के ढाँचे में ढाला जाता है।

कामगार अधिक सुविधा चाहते हैं और मालिक अपने लाभांश अथवा निर्धारण की पूर्तिभर से संतुष्ट हो जाते हैं। होना यह भी चाहिए कि जैसे सेना में युद्ध कौशल की तरह ही अनुशासन, देश-भक्ति एवं कर्तव्यपालन सिखाने के लिए प्रयत्न किया जाता है, वैसा ही व्यक्तित्व को विकसित करने वाली प्रेरणा उन सभी संस्थाओं में संचरित हो, जो छात्रों या व्यक्तियों को अपने साथ जोड़कर रखती है।



महत्त्वाकांक्षा, व्यवस्था बुद्धि की



मनुष्य स्वभावतः महत्त्वाकांक्षी है। सुखोपभोग की इच्छा हर प्राणी में पाई जाती है। इसी हेतु वह अनेक प्रकार के क्रिया-कलापों में संलग्न रहता पाया जाता है। घटिया स्तर के व्यक्ति मात्र शरीरचर्या तक सीमित रहते हैं। वे अच्छे खाने, अच्छा पहनने, मनोरंजक दृश्य देखने, कामुकता की ललक सँजोने में लगे रहते हैं। श्रृंगार सज्जा इसी के अंतर्गत आती है। इससे एक कदम आगे बढ़ने पर महत्त्वाकांक्षी के मन को उल्लसित करने वाले पक्ष सामने आ खड़े होते हैं। ठाठ-बाट, संपत्ति संग्रह, पदवीधारी, सत्ताधारी होने की इच्छाएँ मनःक्षेत्र में ही उठती हैं। दूसरों से अधिक समर्थ संपन्न होने की अभिलाषा से प्रेरित होकर लोग अनेक प्रतिस्पर्द्धा में उतरते हैं और विजयी होने पर गर्व जताते हैं। चुनाव जीतने में लोकसेवा की भावना कम और अपने को विशिष्ट सिद्ध करने की आकांक्षा अधिक होती है। अखबारों में नाम छापने, समारोहों में प्रमुख पद पर आसीन होने, तीर्थयात्रा आदि के माध्यम से लोगों की दृष्टि में धर्मात्मा जँचने जैसे ताने-बाने इसीलिए बुने जाते हैं। विवाह-शादियाँ, प्रीतिभोजों में खरचीली धूम-धाम खड़ी करने में भी अपनी संपन्नता का विज्ञापन करने का भाव ही प्रधान होता है। निर्वाह के साधन तो सरलतापूर्वक कम समय और कम परिश्रम में भी जुट सकते हैं, पर निरंतर व्यस्तता से ग्रसित रहने का प्रमुख कारण एक ही पाया जाता है—दूसरों की तुलना में अपनी विशिष्टता सिद्ध करना। इसी का संरंजाम जुटाने में जीवन का अधिकांश समय, श्रम एवं कौशल खप जाता है।

व्यवस्था बुद्धि की गरिमा / ४१

यह भुला दिया जाता है कि संसार में एक से बढ़कर एक बड़े आदमी भरे पड़े हैं। उनकी तुलना में भरपूर प्रयत्न करने पर भी कदाचित् अपनी बढ़ी-चढ़ी सफलता भी नगण्य समझी जा सके। फिर उत्साह तभी तक रहता है जब तक कि इच्छित वस्तु या स्थिति प्राप्त नहीं हो जाती। उपलब्धि के कुछ क्षण ही पानी के बबूले जैसा उत्साह प्रदान करते हैं। इसके बाद तो जो मिलता है, उसका बोझ और दायित्व वहन करते रहना ही कठिन पड़ जाता है। विवाह से पूर्व जोड़ीदार के संबंध में परी लोक जैसी कल्पनाएँ मस्तिष्क में ज्वार-भाटे की तरह उठती रहती हैं। पर जब कुछ ही दिन में गृहस्थी की भारी भरकम गाड़ी खींचने की बारी आती है, तब पता चलता है कि ललक ने सुविधा कम और झंझट बहुत भारी लाद दिया। जो पाया है, उसे बनाए रहना भी कठिन होता है। ईर्ष्यालु उठ खड़े होते हैं और छीनने या नीचा दिखाने की दुरभिसंधियाँ रचने लगते हैं। फिर जो हर्ष या यश मिला था वह भी थोड़े ही समय स्थिर रहता है। व्यस्तताग्रस्त दूसरे लोग तो उसे कब तक स्मरण रखे रहेंगे। स्वयं अपने को ही अपनी पिछली बातें याद नहीं रहतीं।

इन सब तथ्यों का गंभीर विवेचन करने वाले तत्त्वदर्शियों ने क्षुद्र महत्वाकांक्षाओं को हेय माना है। उनकी उपमा बाल कौतुक से दी है और कहा है कि जीवन को सार्थक बनाने वाले विचारशीलों को इस क्षुद्रता भरी भूल-भुलैया से बचना चाहिए। शक्ति गँवाने और बदले में मिथ्या अहंकार सिर पर लाद लेने में कोई बुद्धिमानी नहीं है। आकांक्षा से शक्ति उत्पन्न होती है और प्रयास में निरत रहने का उत्साह उभरता है। इस तथ्य को प्रगति की प्रारंभिक स्थिति के अनुरूप मानते हुए भी यह देखना चाहिए कि क्या इनकी अपेक्षा ऐसे महत्त्वपूर्ण निर्धारणों का चयन किया जा सकता है, जो आत्मसंतोष के साथ-साथ चिरकाल तक टिकने वाला श्रद्धा भरा लोक-सम्मान प्रदान कर सकें? इस प्रकार का चयन न कर पाने से

ही लोग अजगर को खिलोना मानकर उसकी ओर लपकते और लाभ के स्थान पर भारी घाटे में रहते हैं।

उच्चस्तरीय महत्वाकांक्षा एक ही हो कि अपने को इस स्तर तक सुविकसित बनाया जाए कि दूसरों का मार्गदर्शन कर सकना संभव हो सके। यही सच्चा नेतृत्व है। अभिनेता स्तर के नेता क्षणिक उथली और सस्ती वाहवाही लूटकर अपना मन बहलाते हैं। इसके लिए जो प्रपंच रचने पड़ते हैं, उसी में अपनी बहुमूल्य क्षमता खप जाती है। यदि उसका सदुपयोग हुआ होता तो अपना और दूसरों का कल्याण कर सकने का ऐसा सुयोग बन पड़ता, जिसका अनुकरण अभिनंदन करते हुए लोग अपने को धन्य मानते रहते।

सेवा का प्रत्यक्ष पक्ष दीन-दुखियों की सेवा करना, पिछड़ों को ऊँचा उठाना, पीड़ितों की व्यथा पूछना, अभावग्रस्तों के लिए साधन जुटाना है। यह सभी कार्य उचित हैं और दया धर्म की अभिवृद्धि करते हैं। अपने निर्वाह की तरह दुखियारों को भी अपने सुख-साधनों में सहभागी बनाना मानवोचित कर्तव्य है। इसका निर्वाह हर सद्गृहस्थ को करना चाहिए।

इससे ऊँची दूसरी सेवा साधना है, जिसे धर्मधारणा कहा जाता है। इसका स्वरूप है, अव्यवस्था को व्यवस्था में और अनगढ़ता को सुसंस्कारिता में बदलने वाले मार्गदर्शन हेतु कटिबद्ध होना। यही सच्ची सेवा है। इसी पर वैयक्तिक और सामूहिक प्रगति का आधार बनता है। लोग अभावों से जितने पीड़ित हैं, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक इसलिए दुखी हैं कि वे प्रगति और शांति का मार्ग ढूँढ़ने और अपनाने का सुयोग प्राप्त न कर सके। इस अभाव की पूर्ति कर सकने वाले ही भौतिक एवं आध्यात्मिक अभ्युदय का राजमार्ग विनिर्मित करते हैं। साधु-ब्राह्मण, पुरोहित और लोक-सेवी इसीलिए जन-जन के श्रद्धा-भाजन बनते हैं कि उन्होंने अपने जीवन भर सर्व साधारण को अधिक उत्कर्ष के मार्ग पर चलाने का प्रयत्न किया और उसमें तत्परता बरतने के कारण सफलता भी

पाई। ऐसे मार्गदर्शकों को ऋषिकल्प माना जाता है और उनकी गणना भूसुरों में—धरती के देवताओं में होती है।

किसी समय इसी समुदाय की बहुलता थी, फलतः सतयुगी वातावरण बना रहा। स्वल्प साधनों में ही लोग हिलमिलकर रहते मिल-बाँटकर खाते, स्नेह-सौजन्य बरतते एवं परिस्थितियों को स्वर्गोपम बनाते थे। यह भावना, विचारणा और क्रिया-कलाप का स्तर ऊँचा उठाने की ही परिणति थी कि मनुष्य में देवत्व की झलक-झाँकी का आभास मिलता रहा। आज की विषम परिस्थितियों में ऐसे मार्गदर्शकों की महती आवश्यकता अनुभव की जा रही है। उन्हीं के अभाव में सर्वत्र समस्याओं और विपत्तियों का सामना करना पड़ रहा है। अच्छा होता मनीषी वर्ग की प्रतिभाएँ अपनी लेखनी, वाणी और आदर्शवादी जीवनचर्या के आधार पर पुरातन ब्राह्मण धर्म का परिपालन करतीं और पिछड़ेपन को सर्वतोमुखी प्रगतिशीलता में परिवर्तित कर सकतीं। इस समूची प्रक्रिया को सुसंस्कारिता का अभिवर्द्धन कह सकते हैं। धर्म और अध्यात्म का यही वास्तविक क्षेत्र भी है।

इस क्षेत्र में प्रवेश करने वालों को लोभ, लिप्सा और पारिवारिक मोह पर अंकुश रखने की तरह ही लोकैषणा से भी बचना चाहिए। नेता कहलाने के प्रलोभन में तथाकथित लोकसेवी आपस में बुरी तरह टकराते देखे गए हैं। इससे उस समूचे तंत्र के प्रति अश्रद्धा फैलती है, जिसकी सेवा करने की दुहाई उन लोगों द्वारा दी जाती है। सार्वजनिक संस्थाएँ प्रायः इसी एक चट्टान से टकराकर टूटती और डूबती रही हैं, क्योंकि कितने ही महत्वाकांक्षी अपनी वरिष्ठता के लिए, अन्य साथियों को नीचे गिराने के लिए मल्लयुद्ध करते रहे। इस खतरे को ध्यान में रखते हुए लोकसेवा के क्षेत्र में प्रवेश करने से पूर्व ही अपने आप को अति विनम्र बना लेना चाहिए। बड़प्पन का श्रेय दूसरे साथियों को देने और स्वयं को अकिंचन स्वयंसेवक मानते हुए परम पुरुषार्थ करने में निरत

रहने की मनःस्थिति परिपक्व कर लेनी चाहिए। ऐसे लोग किसी भी पंक्ति में गिने जाते रहें, पर वे सबके मन-मस्तिष्क में राजहंस की तरह सम्मान पाते रहेंगे।

लौकिक क्षेत्र में व्यवस्थापक का पद सर्वोच्च है। अपना काम तो किसी प्रकार सभी निपटाते हैं, पर महत्त्वपूर्ण वे हैं जो सम्बद्ध तंत्र के हर पक्ष पर ध्यान रखते और उसकी व्यवस्था बनाते हैं। सरकारी काम-काज में जनरल मैनेजर का पद सर्वोपरि होता है। अँग्रेजी राज में भारत का सर्वोच्च अधिकारी गवर्नर जनरल कहा जाता था। गवर्नर का अर्थ है—‘व्यवस्थापक’ जो व्यवस्थित रहता और व्यवस्था बनाना जानता है। समझना चाहिए कि उसकी गरिमा एवं उपयोगिता ऊँचे दर्जे की है। कारखानों को, व्यवसायों को, समुदायों को, योजनाओं को ऐसे ही लोग सफल बनाते हैं।

जिन्हें छोटे या बड़े परिवार की सुव्यवस्था बनाकर सफलता के किनारे पर पहुँचाने की महत्त्वाकांक्षा हो, उन्हें सर्वप्रथम अपने आपको व्यवस्थित करना चाहिए। वाणी की मधुरता इस संदर्भ में प्रथम गुण है। मीठा बोलने वाले विरोधी प्रतिस्पर्द्धा का भी मन जीत लेते हैं, जबकि कटुवादी, कर्कश प्रकृति के अशिष्ट व्यक्ति बिना कुछ हानि पहुँचाये संपर्क में आने वालों के मन में अश्रद्धा उत्पन्न करते रहते हैं। उनके मित्र कम और शत्रु अधिक होते हैं। अधिकतर तो लोग उनसे बचते ही रहते हैं।

मधुर बोलने का अर्थ चापलूसी नहीं है और न यह है कि ऐसा कुछ कहा जाए जो वास्तविक नहीं है। जो सहयोग अपने से न बन पड़े उसके लिए झूठे आश्वासन देते समय तो अच्छा लगता है, पर पीछे जब उपेक्षा बरतते देखी जाती है, तो फिर मिथ्याचारी होने का लांछन लगता है। अस्तु, मधुरता के साथ स्पष्टवादिता भी जुड़ी रहनी चाहिए। यह शिष्ट भाषा में शालीनता का निर्वाह करते हुए, हँसते-मुस्कराते अपनी विवशता स्पष्ट करते हुए इस प्रकार कहा जा सकता है कि दूसरा बुरा माने बिना

वस्तुस्थिति को समझ ले। वाणी की सुसंस्कारिता का स्वरूप इसी प्रकार बनता है।

अपने समय का नियोजन व्यवस्थापक की दूसरी विशेषता है। जो समय का विभाजन ठीक तरह नहीं कर पाता, अस्त व्यस्तता के बीच अपनी दिनचर्या गुजारता है, उसके लिए दूसरे साथियों को वैसा उपदेश देने पर उचित प्रभाव नहीं पड़ता। अनुशासन के अनेक पक्ष हैं। उन्हें नियमितता भी कह सकते हैं और लगन या जिम्मेदारी का निर्वाह भी। इसी प्रकार स्वयं व्यवस्थित रहने वाले के साथी भी संचालक की प्रकृति, मनोरथ, मर्जी, अपेक्षा सभी समझ जाते हैं और तदनुरूप आचरण स्वेच्छापूर्वक करने लगते हैं।

उचित रीति से काम न होने या व्यवहार में गैर-जिम्मेदारी बरते जाने पर अप्रसन्नता होना स्वाभाविक है। पर उसे इस प्रकार व्यक्त नहीं करना चाहिए कि गलती करने वाला शरमाकर उसे सुधारने की अपेक्षा, कटुता को अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना ले और अधिक उद्दण्डता पर उतरे। इसमें तो दूनी हानि है। अच्छा हो उसके पिछले अच्छे कार्यों की कुछ चर्चा करते हुए इस प्रकार की भूल किए जाने पर आश्चर्य भर प्रकट किया जाय और उसे शरमाने-सुधारने का अवसर दिया जाय। यह नीति ऐसी है जिससे वर्तमान गलती की क्षतिपूर्ति करने का अवसर मिल जाता है।

अति घनिष्टता और अतिशत्रुता के दोनों ही अतिवाद किसी व्यवस्थापक के स्वभाव में नहीं होने चाहिए। मध्यवर्ती व्यवहार से ही वास्तविकता निभती है। अवांछनीय दवाब डालने की स्थिति तभी आती है, जब मध्यवर्ती सौजन्य से हटकर व्यवहार में अतिवाद का छिछोरापन भर लिया जाए। इस भूल को न करने पर अनेकों असमंजस भरे क्षण आने से सहज बचा जा सकता है। स्वयं और साथियों को तनाव मुक्त रहने, रखने की आदत बनाना भी बड़प्पन है। तनिक सी प्रतिकूलता में खिन्न-उद्विग्न हो जाने और तनिक सी सफलता में शेखी बघारने लगने की आदतें बहुत बुरी हैं। गंभीर

लोग आमतौर से हर स्थिति में संतुलन बनाए रखते हैं। मुस्कराते रहने की मुद्रा बनाए रहते हैं। ऐसी संतुलित मनःस्थिति में ही प्रतिकूलता से निपटने और अनुकूलता लाने के लिए नया प्रयत्न करने की सूझ उभरती है। आवेशग्रस्त तो आपा खो बैठने पर दुहरी मुसीबत खड़ी कर लेते हैं।

कमजोरियों और खराबियों को सहन न करने की नीति अपनाई जानी चाहिए। उनके बारे में अपनी सहमति वाली प्रतिक्रिया व्यक्त करने में चूकना नहीं चाहिए। गलतियों से असहमति के प्रति आरंभिक उपेक्षा बरतने पर, उन्हें दूसरे लोग अपना अधिकार मानने लगते हैं और अभ्यस्त हो जाने पर उन्हें छोड़ने में अपने साथ अन्याय हुआ समझने लगते हैं। ऐसे उदाहरण भी देने लगते हैं कि अमुक की गलतियाँ सहन की गईं और हमें धमकाया गया। ऐसे अवसर नहीं आने पाएँ, इसलिए उत्साहीजनों की प्रशंसा करने और लापरवाही बरतने वालों को टोकने का क्रम जारी रहना चाहिए। इस सुधार-परिष्कार का क्रम समय के अनुरूप बनाए रखना हर व्यवस्थापक के लिए आवश्यक होता है। यों अपनापन, सौहार्द, सौजन्य हर किसी के साथ बरते जाने का उपक्रम रहना चाहिए। इससे पिछली कहा-सुनी को लोग भुला देते हैं और सद्भावना की छाप बनाए रहने पर वफादार बने रहते हैं।

मनुष्यों के बीच खाई प्रायः गलतफहमियों के कारण खुदती है। वास्तविक कारण कम और काल्पनिक भ्रम अधिक गड़बड़ी फैलाते हैं। इसलिए होना यह चाहिए कि जहाँ भी, जिनके बीच भी, जब गलतफहमी पनप रही हो, तभी उसे आमने-सामने या बिचौलियों की मारफत निरस्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। गलतफहमियाँ पैदा न होने पाएँ, न पनपें, न बढ़ें, इसके लिए हर व्यवस्था बुद्धि को, संपर्क के लोगों को वस्तुस्थिति से अवगत कराते रहने का प्रयत्न करना चाहिए। अधिक जिम्मेदारी और अधिक वफादारी रखे रहने पर व्यक्ति किस प्रकार आगे बढ़ता और नफे में रहता है,

यह तथ्य यदि परिवार के लोगों को हृदयंगम कराया जाता है, तो वे भटकाने वालों के चंगुल में फँसने से बचे रहते हैं।

प्रतिकूलताएँ आती हैं और प्रतिकूल व्यवहार लोग करते ही रहते हैं। इतने पर भी उनसे अपने चिंतन को प्रभावित नहीं होने देना चाहिए। अपना चिंतन सदा सकारात्मक रहना चाहिए। सोचना यही चाहिए कि बिगड़ी को बनाया कैसे जाए? क्षति की पूर्ति कैसे हो? खाई किस प्रकार पटे? खोया सद्भाव कैसे वापस लौटे? इसके लिए धैर्य रखना और समय पर उचित उपक्रम अपनाया जाना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं कि अनीति के आगे झुका और तुष्टिकरण की नीति अपनाकर अवांछनीय तत्त्वों का हौसला बढ़ाया जाए, वरन यह है कि विद्वेष के कारण अपना चिंतन नकारात्मक, निषेधात्मक एवं आक्रामक न होने लगे। ईर्ष्या, प्रतिशोध, प्रत्याक्रमण की नीति अपनाने में बहादुरी तो अवश्य प्रतीत होती है, पर उसके कारण एक ऐसा कुचक्र चल पड़ता है, जिसमें शक्ति का अपव्यय ही होता है और जो किया जा सकता था, वह न बन पड़ने के कारण अंततः विजयी होने पर भी पराजित होने जैसा प्रतिफल सामने आता है। व्यवस्थापक को पहले अपनी व्यवस्था बनानी चाहिए, ताकि दूसरे व्यक्तियों तथा कार्यों को भी ठीक तरह सँभाल सकना संभव हो सके। यही व्यवस्था बुद्धि की सच्ची परख है।



मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा